के चिकित्सक माने जाते हैं। अमरकोष में लिखा है—'स्वर्वैद्यावश्विनीसुतौ' अर्थात् स्वर्ग के वैद्य और अश्विनी-सुत ये एक ही के नाम हैं। जो महात्मा जिस मन्त्र का साक्षात्कार करते हैं वे उसके ऋषि और मन्त्र में जिसका वर्णन रहता है वही उस (मन्त्र) का देवता माना जाता है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः', 'ऋषिर्दर्शनात्', 'या वर्ण्यते सा देवता' यह निरुक्त का मत है। इस प्रकार प्रकृत ऋचा में अश्विनीकुमारों का वर्णन है। अब इसका अक्षरार्थ देखिये—

हे 'अश्विना'=अश्विनीकुमारो 'नः'=हमारे लिये 'त्रिः'=तीन 'दिव्यानि'=दिव्य भेषजानि'=औषध 'दत्तम्'=दीजिये और 'त्रिः'=तीन 'पार्थिव'=पृथ्वी की एवं 'त्रिः'=तीन औषध 'अद्भ्यः'=जल में से दीजिये। 'ममकाय'=मेरे 'सूनवे'=पुत्र के 'शंयोः'=कल्याण और 'ओमानं' रक्षा (के निमित्त) 'त्रिधातु'=तीनों धातुओं का 'शर्म'=कल्याण 'वहतम्'=सम्पादन कीजिये। (आप) 'शुभस्पती'=कल्याण के स्वामी हैं।

अश्विनीकुमार कौन हैं? क्या हैं? और क्यों हैं? इन विचारों का यह उपयुक्त स्थान नहीं है, तथापि वेदों में यौगिक शब्दों और अनेक पक्षों के होने की वात का दिग्दर्शन हम पहले करा चुके हैं। ऐतिहासिक पक्ष में अश्विनीकुमार दो देवता हैं, जो साथ साथ रहते हैं। एक के विना दूसरा कभी नहीं रहता। ये देवताओं के चिकित्सक हैं। इन्होंने यज्ञ के कटे हुए सिर को जोड़ दिया। पूषा के दाँत टूट जाने पर फिर से नये दाँत लगा दिये। कटे हुए हाथ की जगह सोने का (या सुनहरे रंग का) हाथ लगा दिया और बूढ़े च्यवन ऋषि को फिर से जवान बना दिया।

'युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय चक्रथुः'

(ऋक्)

इन्होंने इन्द्र को आयुर्वेद पढ़ाया। 'शंयु' नामक बृहस्पति का पुत्र था। उसके बीमार पड़ने पर बृहस्पति ने अश्विनीकुमारों से उसके वात, पित्त, कफों को कल्याणकारी बनाने के लिये उक्त ऋचा के द्वारा प्रार्थना की है, और साथ ही वात, पित्त, कफ को शमन करनेवाली (तीन प्रकार की) दिव्य, पार्थिव तथा जलीय औषधों का स्वामी भी उन्हें बताया है। पुराणों की रचना इसी ऐतिहासिक पक्ष को लेकर हुई है। इसी से देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाली इसी प्रकार की अनेक कथाओं का वर्णन उनमें है।

याज्ञिक लोगों के मत में अश्विनीकुमार प्रातःसवन के देवता हैं। प्रातःकाल के यज्ञों में इनकी आहुतियाँ दी जाती हैं।

नैरुक्त लोगों के मत में तीन ही देवता (अग्नि, वायु और आदित्य) हैं और इनके तीन स्थान हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और आदित्यलोक। अग्नि पृथिवीस्थान का देवता है, वायु अथवा इन्द्र मध्यम स्थान (अन्तरिक्ष) के देवता हैं और आदित्य द्युस्थान (आदित्यलोक) का देवता है।

'अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः, (निरुक्त, दैवत०)

बाक़ी सब देवता इन्हीं तीन के अन्तर्गत हैं। इस मत में अश्विनीकुमार मध्यम स्थान के देवता हैं और वायु की भक्ति (कोटि या श्रेणी) में आते हैं। प्रातःकाल ही ये मिलते हैं और ओषधियों के अधिष्ठाता हैं। इस मत का स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रातःकाल चलनेवाले दो प्रकार के विशेष वायु हैं, जो औषधियों में रोगनाशक शक्ति पैदा

करते हैं और वात, पित्त, कफ इन तीनों के विकार दूर करके इन्हें कल्याणकारक बनाते हैं। जो आदमी इनका सेवन (प्रातःकाल का वायुसेवन) करे उसे आरोग्य देते हैं। इनकी गति और दान सर्वव्यापक है।

"विभुर्वां याम उत रातिरश्विना।" ऋक्

हे 'अश्विनौ'=अश्विनीकुमारो, 'वाम्'=आप दोनों का 'याम'=गति और 'राति'=दान 'विभु'=व्यापक है। 'अश्व' शब्द 'अश्' धातु से बनता है। इस धातु का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण किरणों को भी 'अश्व' कहते हैं और वायु के विशेष अंशों को भी 'अश्व' कहते हैं। 'याम' शब्द गमनार्थक 'या' धातु से बना है और 'राति' शब्द दानार्थक 'रा' धातु से सिद्ध हुआ है। 'विभु' शब्द में 'वि' पूर्वक 'भू' धातु है। इसका अर्थ व्यापकता भी है और सामर्थ्य भी। प्रातःकाल चलनेवाली वायु में दो अंश होते हैं। एक में रोग नाश करने की शक्ति है और दूसरे में बल देने की शक्ति है। विशुद्ध होने के कारण समुद्रतट की और पर्वत के ऊपर की वायु में ये दोनों अंश अधिक कार्यक्षम होते हैं। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ये दोनों अंश व्यापक रूप से रहते हैं। इन्हीं दोनों शक्तियों ('अश्वों') के कारण उषःकाल की वायु का नाम 'अश्विन्' है। इस सम्बन्ध के वेदमन्त्र—'द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः'—इत्यादि का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

एक मत में प्रातःकाल सूर्योदय से पहले और अन्धकार के बाद की—उषःकाल की—उन किरणों का नाम अश्विनी-कुमार है जो अलसी के फूल के रंग की (श्याम, शुभ्र) प्रकाशित होती हैं। अश्व शब्द वैदिक साहित्य में किरणों का

भी वाचक है। जो किरणों से युक्त हो उसे 'अश्विन्' (या अश्विनीकुमार) कहते हैं। उषा (प्रातःकाल) और आदित्य (सूर्य) किरणयुक्त होने के कारण 'अश्विन्' कहाते हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में ऋग्वेद की ८।४।१२।१ ऋचा

"यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित् प्रापश्यन्भुवनानि विश्वा"

की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है—

"यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूतां सर्वदा सहचारिणौ उषाश्चादित्यश्च।"

यही सदा साथ रहनेवाले उषा और आदित्य का जोड़ा एक जगह स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित हुआ है।

'कुहस्विदोषा कुहवस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतुः कुहोषतुः'
(ऋग्वेद, ७।८।१८।२)

इसमें कहा गया है कि हे अश्विनीकुमार तुम दिन में और रात में कहाँ रहते हो? उस समय तुम्हारे दर्शन नहीं होते। इस मन्त्र का प्रयोग प्रातःकाल के अनुवाक में अश्विनीकुमारों के लिये होता है। उस समय अश्विनीकुमार सामने खड़े हैं। उनसे प्रश्न होता है। परन्तु वे ऐसे हैं जो इस समय के सिवा फिर न दिन में दीखते हैं न रात में। ये कौन हैं? वे ही उषा और आदित्य जिन्हें निरुक्तकार ने सदा का साथी जोड़ा बताया है (सर्वदा सहचारिणौ उषाश्चादित्यश्च) प्रत्यूष काल की वायु और किरणों (अश्विनीकुमारों) का वनस्पतियों पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह बात विज्ञानाचार्य श्रीजगदीशचन्द्र वसु महाशय ही शायद प्रत्यक्ष करा सकें। वेदों ने अश्विनीकुमारों को आरोग्यदाता, कल्याणकारी और ओषधियों का अधिष्ठाता बताया है। एवं आयुर्वेद ने इसी समय ओषधियों को जङ्गल से उखाड़कर लाने की आज्ञा दी है—

'गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रातः सुवासरे'

परन्तु पाश्चात्य विज्ञानशालायें—जिन पर ऐलोपैथी को नाज़ है—इस विषय में अब तक बिल्कुल अंधी हैं।

पूर्वोक्त ऋचा में 'त्रिधातु' और 'शर्म' शब्द आये हैं। इनका तात्पर्य उस कल्याण (शर्म) से है जो तीन धातुओं (त्रिधातु) से सम्बन्ध रखता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि किसी लड़के (सूनु) के लिये औषधों की प्रार्थना की गई है। 'सूनु' शब्द 'सू' धातु से 'नु' प्रत्यय करने से बनता है। इस धातु का अर्थ है प्राणी की उत्पत्ति। सूनु शब्द भी वेद के अन्य शब्दों की तरह यौगिक है अतः इसका अर्थ शरीर भी हो सकता है। अब सूनु शब्द का चाहे जो अर्थ कीजिये, औषध की प्रार्थना और तीनों धातुओं का कल्याण एक सा है। ये तीन धातु वात, पित्त, कफ हैं, यह बात सायणाचार्य ने स्पष्ट कह दी है। वात, पित्त, कफ को धातु क्यों कहते हैं, इसे आयुर्वेद में देखिये—

'वायुः, पित्तं, कफो दोषा धातवश्च मला मताः'

अर्थात् वात, पित्त और कफ इन्हें दोष भी कहते हैं, धातु भी कहते हैं और मल भी।

"शरीरदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात्;
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः"

शरीर को दूषित करने के कारण दोष, उसे (शरीर को) धारण करने के कारण धातु और मलिन करने के कारण ये मल कहाते हैं। इनका साम्य जब तक शरीर में बना रहता है अर्थात् जिस मात्रा में शरीर की प्रकृति के अनुसार इनकी आवश्यकता शरीर में है उसी मात्रा में जब तक ये बने रहते हैं तब तक मनुष्य नीरोग रहता है। इसी समय,

शरीर का धारण करने के कारण ये 'धातु' कहाते हैं। प्रकृत ऋचा में रोगी के आरोग्य (शर्म) की प्रार्थना है। वह तभी हो सकता है जब वात, पित्त, कफ का मलत्व और दोषत्व दूर होकर उनमें धातुत्व आये। अतएव यहाँ—'त्रिधातु' में—'धातु' शब्द का प्रयोग किया गया है। इनकी विषमता होते ही रोग पैदा होने लगते हैं। चरक में लिखा है—'कार्ययोनिर्धातुवैषम्यम्, तस्य लक्षणं विकारागमः'—'कार्यं धातुसाम्यम्, तस्य लक्षणं विकारोपशमः' (च० विमान० ८ अ०)

शरीर में वात, पित्त, कफ की न्यूनता भी रोग का कारण होती है और अधिकता भी। विषमता दोनों तरह होती है। सुश्रुत में लिखा है—'तत्र वातक्षये मन्दचेष्टता ऽल्पवाक्त्व मप्रहर्षो मूढसंज्ञता च। पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं च। श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतराशयश्लेष्माशय-शून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च'।

(सुश्रुत, सूत्र० १ अ० १५)

अर्थात् शरीर में उपयुक्त वात की कमी होने पर शरीर की चेष्टायें मन्द होने लगेंगी, बोलना कम हो जायगा, प्रसन्नता जाती रहेगी—किसी बात से हर्ष न होगा—और संज्ञा (चेतना) कम होने लगेगी। पित्त की कमी में शरीर की गरमी और पाचनशक्ति कम होने लगेगी एवं मुख आदि की प्रभा (रौनक़) उड़ने लगेगी, और कफ की कमी होने पर रूक्षता उत्पन्न होगी, शरीर के भीतर दाह होने लगेगा, आमाशय (पाकस्थली), छाती, कण्ठ आदि शून्य (ख़ाली) मालूम होने लगेंगे, शरीर की सन्धियाँ (जोड़) शिथिल होने लगेंगी, प्यास कम हो जायगी और नींद जाती रहेगी।

जिस प्रकार न्यूनता रोग का कारण है इसी प्रकार अधिकता भी है। वात आदि की अधिकता में भी रोग होते हैं।

"तत्र वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं, कार्श्यं, कार्ष्ण्यं, गात्रस्फुरण,-मुष्णाकामिता, निद्रानाशो,ऽल्पबलत्वं, गाढवर्चस्कत्वं च। पित्तवृद्धौ पीतावभासता, सन्तापः, शीतकामित्व,मल्पनिद्रता, मूर्च्छा, बलहानि,रिन्द्रियदौर्बल्यं, पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च। श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं, शैत्यं, स्थैर्यं, गौरव,मवसाद,-स्तन्द्रा, निद्रा, सन्ध्यस्थिविश्लेपश्च" (सुश्रुत, सूत्र० अ० १५)

शरीर में आवश्यकता से अधिक वायु के होने पर बात करने में रूखापन आ जायगा—आवाज़ भर्राने लगेगी—शरीर दुबला और काला होने लगेगा, अङ्ग फरकेंगे, गरम चीज़ को जी चाहेगा, नींद न आयेगी, बल क्षीण होगा, और पाख़ाना सूख जायगा। पित्त के बढ़ने पर शरीर का रङ्ग पीला होने लगेगा, दाह और व्याकुलता होगी, ठण्डी चीज़ को जी चाहेगा, नींद कम होगी, मूर्च्छा, बलहानि, इन्द्रियों की दुर्बलता, शौच, पेशाब और आँखों में पीलापन आ जायगा। एवं कफ की वृद्धि होने पर शरीर में शुक्लता, ठण्डक, स्थिरता (चेष्टा की कमी), भारीपन, आलस्य, ग्लानि, ऊँघना, नींद और जोड़ों तथा हड्डियों में शिथिलता होगी।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से दोष, धातु, मल आदि के लक्षण, उनका परस्पर भेद, एक से दूसरे का विरोध और मिश्रित लक्षण भी आयुर्वेद में लिखे हैं जिनके कारण रोग की प्रकृति बड़ी सुगमता से जानी जा सकती है। रोग चाहे नया हो या पुराना, आज का हो या सौ वर्ष बाद का अथवा हज़ार वर्ष पहले का, हम उसका नाम जानें या न जानें, पर उसकी प्रकृति को पहचान लेंगे। उसकी जड़

का पता पा लेंगे और आयुर्वेदिक सिद्धांतों के अनुसार उसकी चिकित्सा-पद्धति का भी निर्धारण कर सकेंगे।

जिस प्रकृति से संसार की प्रत्येक वस्तु बनी हुई है, जिससे कोई भी परमाणु खाली नहीं, जगत् का एक एक परमाणु संसार का एक एक पत्ता जड़ी बूटियों का एक एक रेशा और जीव जन्तुओं का एक एक रोम जिस प्रकृति-सिद्धान्त से जकड़ा हुआ है, आकाश और पाताल, सूर्य और चन्द्रमा, अग्नि और जल जिस प्रकृतिनियम से बाल भर भी बाहर नहीं जा सकते उसके अनुसार चलनेवाली चिकित्सा-पद्धति को भ्रम कैसे होगा? उसको अज्ञेय वस्तु क्या होगी? और उसके आगे छिप सकनेवाला रोग कहाँ से आयेगा?

इसकी कुञ्जी भी कौन बतायेगा? वही जिसने यह पेचीदा ताला बनाया है। इञ्जन चलाने की ठीक ठीक तरकीब भी वही बता सकता है जिसने इञ्जन का आविष्कार किया है। प्रकृति के नियन्त्रण की प्रक्रिया भी प्रकृतिपति परमेश्वर के सिवा और कौन बता सकता है? वेद में 'त्रिधातु' और 'शर्म' पद आये थे। ये तीन धातु कौन हैं, और इनका कल्याण क्या है, यह हम संक्षेप से बता चुके।

'रोगस्तु धातुवैषम्यं धातुसाम्यमरोगता'

धातुओं (वात, पित्त, कफों) की विषमता का नाम रोग और इनकी साम्यावस्था का नाम आरोग्य है, यह बात हम कह चुके।

जो पुरुष किसी वृक्ष के हरएक पत्ते को अलग अलग सींचकर उसे हरा भरा रखना चाहता है, वह चाहे करोड़ों रुपये खर्च करे, चाहे लाखों आदमियों को वेतन दे, चाहे हज़ारों यन्त्र बनाये और चाहे सैकड़ों नित नए आविष्कार

learned, strong, rich and intelligent.* Now under these circumstances would the Vaidyas place them under *Sattva* or *Tamas*? Just the same is the case with *Vāta* and *Pitta*. It is written in the Ayurvedic books that *Pitta* is located in the eyes. Can any Vaidya show it there by 'operation'? In some places they are described as pervading the whole body, while in others as being located in a particular place. Why is all this confusion? There are similar other things which cannot be proved by science or by reason. The decoction of *Guduchi* and others is praised as curing all kinds of fevers. If this one medicine is enough to cure all fevers, where was the necessity of prescribing other medicines in the Shastras? Some medicines have been extolled to the utmost limit. Is it all true? Can any Vaidya show in practice to-day all the properties of *Chyavana prāsha* as described in the books? Allopathy has no such absurdities; what it has is accurate and true. Under these circumstances, it may safely be asserted that there can be no other system as sound as allopathy. As regards incompleteness, that will always be the case with everything. Nothing in this world can claim to be perfect. For these reasons, Allopathy is claimed to be superior to all other systems of medicine."

All the above arguments advanced by allopaths have been elaborately replied to in an admirable

* Vide Charaka—Vimana—ch. VIII.

करे परन्तु सौ जन्म रखने पर भी अपने मनोरथ में सफल नहीं हो सकता। हाँ, जिसने वृक्ष की जड़ का पता लगा लिया है और बिना किसी आडम्बर के साधारण मिट्टी के घड़े से ही उसे आवश्यकतानुसार सींचा करता है और उसमें होनेवाले दोषों पर ध्यान रखकर उनका प्रतीकार करता रहता है वह वृक्ष को अवश्य हरा भरा रख सकता है। रुपये की चमक दमक और यन्त्रों की तड़क भड़क दिखाकर पत्तों पर पानी छिड़कनेवाला आदमी वृक्ष के मूलसेचन के सिद्धान्त की अवहेला नहीं कर सकता। हाँ, मूर्खों को बहका लेने की बात और है।

चरक में लिखा है—

"तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात् दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुत्वात् । तस्माद्यथा चित्रं विकारा उदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषा व्याख्यास्यन्ते । रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमदशोक-चित्तोद्वेगभयहर्षादयः । वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः । तेषामपि च विकारा ज्वरातीसारशोफशोषश्वासमेह-कुष्ठादय इति दोषाश्च केवला व्याख्याता विकारैकदेशश्च।"

(चरक, विमान०, अ० ६)

अर्थात् संसार में बीमारियाँ इतनी अधिक हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती । हाँ, दोषों की गिनती हो सकती है क्योंकि वे बहुत नहीं हैं । अतः हम बीमारियों का तो केवल उदाहरणरूप से वर्णन करेंगे और दोषों का सम्पूर्ण वर्णन करेंगे । रजोगुण और तमोगुण मन के दोष हैं । मन में जितनी बीमारियाँ होती हैं इन्हीं के कारण होती हैं। इनसे बाहर कोई नहीं। काम, क्रोध,

लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, उद्वेग (घबराहट), भय आदिक बीमारियाँ इन्हीं से होती हैं। शरीर के दोष हैं वात, पित्त और कफ। शरीर में भूत, भविष्यत्, वर्तमान जितने रोग हैं, उन सबकी जड़ ये ही हैं। इनसे बाहर कोई रोग नहीं हो सकता। ज्वर, अतीसार (दस्त), शोफ (सूजन), शोष (क्षय), श्वास (दमा), प्रमेह (जिरियान) और कोढ़ आदिक विकार इन्हीं वात, पित्त, कफों से पैदा होते हैं। इस प्रकार बीमारियों का केवल एक अंश उदाहरणार्थ कहा गया है और दोष सम्पूर्ण कह दिये गये हैं। इसके आगे महर्षि चरक ने यह भी बताया है कि इन दोषों में विकार कैसे आता है, और किस किस दोष से कौन कौन सा रोग पैदा होता है। हम विस्तारभय से उसे छोड़ते हैं। अब हम ऐलोपैथी को चैलेञ्ज देते हैं, यदि उसकी वैज्ञानिक पद्धति ने कोई ऐसा यन्त्र आविष्कृत किया हो तो दिखाये जिससे संसार के भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब रोगों का पता लग सके। यदि उसमें सामर्थ्य हो तो बताये कि तमाम रोगों का मूलस्रोत मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?

यदि उसके पास कोई ऐसा यन्त्र हो तो दिखाये जिससे प्राणियों के मन में विकार उत्पन्न करनेवाले बीजों का पता लगाया जा सके। यदि उसे मनुष्य के मन और शरीर में सामञ्जस्य करनेवाली शक्तियों का पता हो तो बताये।

हम अभी चरक के जिस अंश का उल्लेख कर चुके हैं। उस पर एक प्रबल सन्देह हो सकता है। उसमें मन के दोष रजस्, तमस् बताये हैं और शरीर के वात, पित्त, कफ। इससे स्पष्ट है कि वात, पित्त, कफ रजोगुण और तमोगुण से भिन्न हैं। सत्त्वगुण से कोई विकार होता नहीं। फिर

ये वात, पित्त, कफ हैं क्या बला ? सत्त्व आदि तीन गुणों से बाहर की तो संसार में कोई वस्तु ही नहीं है। फिर नैयायिकों और वैशेषिकों के द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में भी तो इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। जब इन वात, पित्तों का मूल ही कुछ नहीं, ये कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध होते तो इनके भरोसे इतनी उछल कूद मचाना मूर्खता नहीं तो क्या है ?

सांख्यशास्त्र में जो तत्त्व 'पञ्चतन्मात्रा' के नाम से प्रसिद्ध है वह स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के मध्य की वस्तु है। पञ्चतन्मात्रा के एक ओर प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदिक सूक्ष्म जगत् है और दूसरी ओर परमाणु, द्व्यणुक, त्रसरेणु, Atoms, electrons आदि स्थूल जगत् है। सूक्ष्म जगत् में पञ्चतन्मात्रा के पिता, पितामह आदिक रहते हैं और स्थूल जगत् में उसके पुत्र, पौत्र आदिक विहार करते हैं। उसके पूर्व की सृष्टि में इने गिने तत्त्व हैं, परन्तु उसकी सन्तति के भेद अनन्त हैं। साथ ही एक बात और है। सूक्ष्म सृष्टि में सत्त्व और रजस् की प्रधानता रहती है। जो तमोगुण रहता है वह भी सूक्ष्मरूप में। फिर वहाँ मूल तत्त्वों के अधिक व्यवहित न होने के कारण, सत्त्व, रजस्, तमस् के विकार इतने स्पष्ट होते हैं कि झट पहचाने जा सकते हैं। जिस गाँव में दो ही तीन रईस हैं, वहाँ उनके नौकरों का पता आसानी से लग सकता है। जिस जगह दस ही पाँच आदमी रहते हैं वहाँ अपराधी का पता लगा लेना खुफ़िया पुलिस के लिये उतना कठिन नहीं है, परन्तु जहाँ रहनेवालों की संख्या का ठिकाना नहीं, मकानों का अन्त नहीं, आने जानेवालों की शुमार नहीं, हरएक आदमी

दिन में तीन तीन रूप बदलता है और बिना परिचय के घर में घुसने की इजाज़त नहीं, वहाँ किसी को ढूँढ़ निकालना टेढ़ी खीर है। ऐसी जगह बड़े बड़े उस्तादों के भी पर जलते हैं। कलकत्ता और बंबई में अपराधी का पता जल्दी नहीं लग सकता। छोटे से गाँव में किसी लड़के को देखकर उसके बाप का नाम और पता हरएक बता सकता है, परन्तु बड़े शहरों में यह बात नहीं हो सकती। पञ्चतन्मात्राओं की पूर्व सृष्टि (सूक्ष्म जगत्) में सत्त्व, रजस्, तमस्, महत् और अहङ्कार बस यही सामान है और स्थूल जगत् की ओर बढ़िये तो अनन्त सृष्टि है। परन्तु स्थूल जगत् की ओर बढ़ने का मूल स्थान और सूक्ष्म जगत् की ओर बढ़ने का मध्य स्थान यही है। यही वह जंक्शन है जहाँ से दोनों ओर को गाड़ी छूटती है। चाहे कहीं का मुसाफ़िर हो यहाँ अवश्य आयेगा। यही वह जगह है जहाँ सब ओर जानेवालों का पता बड़ी सुगमता से लग सकता है। यही कारण है कि वेदों और ऋषियों ने इसी जगह प्रकृति के पहचानने की छाप लगाना उचित समझा। 'तन्मात्रा' पाँच हैं, इसी से इन्हें पञ्चतन्मात्रा कहा जाता है। इनके नाम हैं, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा। रूपतन्मात्रा से रूपवान् जगत् बनता है और रसतन्मात्रा से रसयुक्त सृष्टि होती है। इसी प्रकार शेष गुणों के द्वारा उनसे युक्त संसार का आरम्भ होता है। जिस वस्तु में रूप और रस दोनों हैं उसके मूल में दोनों तन्मात्रायें विद्यमान हैं। एवं जहाँ अधिक गुण हैं वहाँ अधिक तन्मात्रायें उस द्रव्य की आरम्भक मानी जायँगी।

स्थूल जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकती जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से शून्य हो। इनमें से कोई न कोई गुण उसमें अवश्य रहेगा।

एक बात और है। स्थूलता या ठोसपन तमोगुण के बिना नहीं हो सकता। सत्त्व और रज दोनों सूक्ष्म हैं। जो वस्तु जितनी ठोस है उसमें उतना ही तमोगुण का भाग अधिक है। प्रकाश सत्त्वगुण का और क्रिया रजोगुण का धर्म है।

तन्मात्रायें पाँच ही हैं। यदि आपको इनके गुणों का परिचय मिल जाय तो आप समस्त स्थूल जगत् को पहचान सकेंगे और उसके असर को जान सकेंगे। कल्पना कीजिये कि आपने रसतन्मात्रा के गुणों का परिचय प्राप्त किया। रस छः ही हैं। इनके गुण और दुर्गुणों से आप परिचित हो गये। आपको यह मालूम हो गया कि कड़वे रस में इतने गुण हैं और इतने दुर्गुण हैं तो अब आप संसार की तमाम कड़वी वस्तुओं के ज्ञाता हो चुके। कोई भी कड़वी वस्तु आपके सामने आये आप उसके गुणों को भी जान जायेंगे और उसके दुर्गुणों को भी समझ लेंगे। किसी रोगी को वह वस्तु देने से क्या असर होगा यह बात आप झट समझ जायेंगे। उसका लाभ और हानि दोनों आपकी आँखों के सामने नाचने लगेंगे। इस प्रकार समस्त कड़वे संसार का ज्ञान आपको प्राप्त हो चुका। इसी प्रकार मीठे, खट्टे और नमकीन को देख जाइये। छः रसों को समझ लेने के बाद अब आपको समस्त संसार की वस्तुओं से परिचय प्राप्त हो गया। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल की और यावत् जगत् की तमाम सरस चीजों का ज्ञान आपको हो चुका। इसी प्रकार रूप, गन्ध, स्पर्श और

शब्द को समझ लीजिये। चरक ने इन तन्मात्राओं का जैसा वर्णन किया है, वैसा शायद ही संसार में कहीं मिले। कड़वे रस का वर्णन हम कुनैन के प्रकरण में करेंगे। सब बातें जाननी हों तो चरक पढ़िये।

इस प्रकार इन गुणों के द्वारा स्थूल द्रव्यों का पहचानना सुगम तो अवश्य है। रस, गुण, वीर्य, विपाक का बहुत कुछ पता भी इससे लग जायगा, परन्तु इनके अतिरिक्त एक वस्तु प्रभाव भी है। वहाँ तन्मात्राओं का इतना ज्ञान काफ़ी नहीं है। वस्तु के वीर्य का भी समस्त ज्ञान इतने से नहीं हो सकता और प्रभाव की तो बात ही और है। दो वस्तुओं के मेल से जो तीसरी वस्तु बनती है उसके असर को प्रभाव कहते हैं। यह बड़ा कठिन मार्ग है। इसका अन्त पाना असम्भव है। चरक ने तो यहाँ तक कहा है कि जङ्गली मनुष्यों, भीलों, गोपों और बकरियाँ चरानेवालों से भी ओषधि का प्रभाव पूछकर उसकी परीक्षा शास्त्रानुसार करनी चाहिये। इस प्रभाव की पहचान इन तन्मात्राओं के ज्ञान से पूरी नहीं हो सकती थी।

इसलिये वेदों और ऋषियों ने इन पञ्चतन्मात्राओं में और भी सूक्ष्म तत्त्व ढूँढ़ निकाले। यद्यपि तन्मात्राओं से ही समस्त स्थूल जगत् बना है, परन्तु अनन्त भेदों में विभक्त है। एक एक करके जानना चाहे तो हज़ार जन्मों में भी कभी सृष्टि का अन्त नहीं पा सकता, तथापि कुछ गुण ऐसे हैं जो इन तन्मात्राओं से लेकर मोटी से मोटी वस्तु में भी बराबर विद्यमान रहते हैं। उनसे ख़ाली कोई नहीं। उन्हीं गुणों के द्वारा पञ्चतन्मात्राओं में विद्यमान उन सूक्ष्म तत्त्वों का पता लग सकता है जिनसे प्रकृति का कोई भी परमाणु

बचा नहीं है। इन गुणों का क्रम है—स्नेह, श्लक्ष्णता, मृदुता, माधुर्य, सारत्व, सान्द्रत्व, मन्दत्व, स्तिमितत्व, गुरुत्व, शीतत्व, पिच्छिलत्व, अच्छत्व, उष्णत्व, तीक्ष्णत्व, द्रवत्व, विस्रत्व, अम्लत्व, कटुत्व, रूक्षत्व, लघुत्व, चलत्व, बहुत्व, शीघ्रत्व, शीतत्व, परुषत्व और विशदत्व। इनमें शीतत्व दो जगह आया है अतः शीतत्व के साथ उसके आसपास के अन्य साथियों का देखना भी आवश्यक है। पञ्चतन्मात्राओं से बने स्थूल जगत् में प्रधानतया ये ही गुण राज्य करते हैं। इन्हीं के द्वारा समस्त संसार की परीक्षा की जा सकती है। ऋषियों ने इन गुणों को तीन भागों में बाँटा है। स्नेह से लेकर अच्छत्व पर्यन्त एक कोटि, उष्णत्व से लेकर कटुकत्व पर्यन्त दूसरी कोटि और रूक्षत्व से लेकर अन्त्य तक तीसरी कोटि मानी है। पञ्चतन्मात्राओं के संकुशन से तीन लाइनें बनती हैं। एक स्निग्धता की ओर जाती है, दूसरी रूक्षता की ओर झुकता है और तीसरी तीक्ष्णता की ओर पहुँचती है। इन गुणों के साथ अन्य गुण भी रहते हैं जिन्हें ऊपर दिया गया है। स्थूल जगत् में स्निग्धता का सम्बन्ध जल से, रूक्षता का सम्बन्ध वायु से और तीक्ष्णता का सम्बन्ध अग्नि से है। वेदों ने चन्द्रमा, सूर्य और वायु इन तीन देवताओं को क्रम से इन तीनों गुणों का अधिपति या अधिष्ठातृ देवता माना है। आयुर्वेद में ये ही तीन गुण कफ, पित्त और वात कहाते हैं। कफ का अधिपति चन्द्रमा, पित्त का अधिष्ठाता सूर्य और रूक्षता का देवता वायु है। बङ्गाल में अब भी शुक्ल पक्ष में जब चन्द्रमा पूर्ण होता है और समुद्र का जल निकल निकल कर नदियों के वेग को उलटा बहाने लगता है तब चिकित्सक लोग रोगियों का

चावल आदि कफकारी वस्तुएँ खाना बन्द कर देते हैं। कफ के रोग उन दिनों वहाँ ज़ोर पकड़ते हैं। कफ के देवता (चन्द्रमा) की वृद्धि में जल भी बढ़ता है और रोगियों के पेट में रसस्निग्धता या कफ की भी वृद्धि होती है। जो चाहे इसे प्रत्यक्ष देख सकता है। जिन स्थानों से समुद्र दूर है वहाँ इतना स्पष्ट प्रभाव नहीं दीखता। इन वात, पित्त, कफों के सूक्ष्म तत्त्वों और गुणों का विवेचन समझ लेने से संसार की समस्त भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुओं का प्रभाव जाना जा सकता है और सब प्रकार के रोगों और सब तरह के रोगियों की परीक्षा की जा सकती है। आयुर्वेद में इन्हीं तीनों को मल, दोष या धातु कहा जाता है और वेद की पूर्वोक्त ऋचा में 'त्रिधातु शर्म वहतम्' से इन्हीं की ओर इशारा है। जिस समय कोई परमाणु तन्मात्राओं के गर्भ से बाहर निकलता है तो वह इन तीनों गुणों का कोई न कोई अंश अपने साथ अवश्य लाता है। प्रकृति की यही छाप तन्मात्राओं के जंकुशन पर इस मुसाफ़िर के मुँह पर लगा दी जाती है। जिस अणु में जिस गुण की प्रधानता रहती है वही उसकी प्रकृति (या मिज़ाज) कहाती है। संसार की कोई वस्तु इस (प्रकृति) से ख़ाली नहीं है। कङ्कड़ पत्थर, घास पात, जीव जन्तु, सभी जड़ चेतन वात, पित्त, कफ की प्रकृति से व्याप्त हैं। संसार में इनसे रहित कोई वस्तु नहीं है।

वेदार्थ करने की प्रक्रिया में हम यह बता चुके हैं कि पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, और आदित्यलोक के भेद से वेदमन्त्रों के तीन तीन अर्थ होते हैं। जब वेद का अग्नि शब्द पृथिवी की वस्तुओं का वर्णन करता है तब उसका अर्थ

यही भौतिक अग्नि होता है। जब वह अन्तरिक्षलोक की बात कहता है तो उसी अग्नि शब्द से बिजली का तात्पर्य होता है और आदित्यलोक की बातों से सम्बन्ध होने पर उसी का सूर्य से तात्पर्य होता है। सोम शब्द चन्द्रमा का भी बोध कराता है, पृथ्वी पर होनेवाली एक बूटी (सोम) का भी ज्ञान कराता है और सूर्य की किरणों द्वारा खींचे गये अन्तरिक्ष में वर्तमान सूक्ष्म जलीय कणों का भी वाचक होता है। इसी प्रकार वायु आदिक शब्द भी जानना।

चरक ने रोगी की परीक्षा करने के कुछ उपाय बताये हैं। उनमें एक 'प्रकृतिपरीक्षा' भी है।

महर्षि चरक का कहना है कि सबसे पहले रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। इससे दो बातें मालूम होंगी। एक तो यह कि रोगी जीने योग्य है या नहीं और दूसरे रोगी का बल कितना है एवं रोग और रोग को उत्पन्न करनेवाले दोषों (वात, पित्त, कफ) का बल कितना है। रोगी और रोग के बल के अनुसार ही औषध का प्रयोग करना चाहिये। जिस रोगी का बल अल्प है या जिसका रोग अल्प है उसे यदि तीक्ष्ण औषध पहुँच गई, तो मार ही देगी। जिन औषधों में अग्नि, सोम और वायु (वात, पित्त, कफ) के तीक्ष्णतर गुण विद्यमान हैं वे अल्पप्राण रोगी का शीघ्र ही प्राणान्त कर देंगी। इसलिये हीनबल रोगियों को और खासकर स्त्रियों को, जो स्वभाव से ही कोमलहृदय, सुकुमारी और अबला होती हैं एवं दूसरों के आश्वासन देने पर धैर्य रख सकती हैं, इस प्रकार की औषध देनी चाहिये जो मृदुवीर्य हो, वेग में सुकुमार हो, तीक्ष्णरस न हो, घबराहट न पैदा करे और जिससे किसी

अनिष्ट की आशंका न हो। इसी प्रकार बलवान् पुरुष और बलिष्ठ रोग में कोमल औषध व्यर्थ होती है। अतः रोगी की परीक्षा करने के लिये उसकी प्रकृति, विकृति, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहारशक्ति, व्यायामशक्ति और आयु की परीक्षा करनी चाहिये। इससे रोगी और रोग के बल का अन्दाज़ा हो सकेगा। देखिये—

"आतुरस्तु खलु कार्यदेशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः। दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति। सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पबलमातुरमभिघातयेत् न ह्यतिबलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्। अविषह्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्धि सद्यःप्राणहराणि स्युः। एतच्चैवकारणमपेक्षमाणा हीनबलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः, विशेषतश्च नारीः। ता ह्यनवस्थितमृदुवृत्तविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽबलाः परसंस्तभ्याश्च। तथा बलवति बलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति। तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति।" (च० विमा० अ० ८)

सबसे पहले रोगी की प्रकृति की परीक्षा करनी चाहिये। प्रकृति शब्द का यहाँ क्या तात्पर्य है, यह बात महर्षि चरक के ही शब्दों में सुनिये—

"तत्र प्रकृत्यादीन्भावाननुव्याख्यास्यामः। तद्यथा शुक्रशोणितप्रकृतिम्, कालगर्भाशयप्रकृतिं मातुराहारविहारप्रकृतिम्, महाभूतविकारप्रकृतिञ्च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन

manner in the book, and the author has shown clearly and unambiguously that these objections fall to the ground in the presence of the eternal truths expounded by the Indian sages He has given quotations from the Vedas as well, and has conclusively proved that the germ theory, which the modern doctors claim to be their discovery, is as old as the Vedas. He has been able to prove successfully that the Vedas do contain not only the germ theories, but also the description of a regular treatment of such virulent diseases as Pthysis and the like. He has also cited about a dozen instances which had been pronounced as hopeless cases of Pthysis by doctors but which were completely cured under the Ayurvedic treatment. Even those, who have no faith in the divine origin of the Vedas and as such do not attach any importance to them, will find that they do contain eternal truths, which are coming down from time immemorial and which hold good even to the present day.

Criticism of Allopathy and Relative importance of Ayurveda.

In the latter part of the book, the learned author has tried to establish the superiority of Ayurveda over other systems of medicine. We can do no better than to present below a few of the leading points, from the book, set forth by him to criticize the allopathic system with a view to bring out the relative importance of Ayurveda.

" 1. Western Science begins with the empiric examination of individual substances, and as subs-

दोषेणाधिकतमेनैकेनाऽनेकेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम् गर्भादि-प्रवृत्ता। तस्माद्वातला: प्रकृत्या केचित्, पित्तला: केचित्, श्लेष्मला: केचित् संसृष्टा:केचित्, समधातव:प्रकृत्या केचित् भवन्ति।"

जब कोई बच्चा माता के गर्भ में आता है, तो उस पर चार प्रकृतियों का प्रधानतया प्रभाव पड़ता है। सबसे पहले शुक्र और शोणित (रज, वीर्य) की प्रकृति का असर पड़ता है। गर्भ की उत्पत्ति रज तथा वीर्य से होती है। और रज, वीर्य माता, पिता के शरीर से उत्पन्न होते हैं एवं माता, पिता का शरीर उनके आहार विहार से बनता है। अब यदि माता पिता के भोजन आदिक सात्त्विक हैं तो उनके शरीर में बने सब धातुओं (रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य) में सात्त्विक प्रभाव होगा, यदि रजोगुणी या तमोगुणी हैं, तो शरीर के सब धातुओं में राजस या तामस प्रभाव होगा। अथवा यों कहिये कि उनका आहार विहार यदि वातल है, तो उनके रज, वीर्य में वायु की प्रधानता रहेगी और यदि पित्तल या श्लेष्मल है, तो पित्त या कफ की प्रधानता रहेगी। यह रज, वीर्य जिस प्रकार का होगा उसी का असर गर्भस्थ बच्चे के शरीर पर पड़ेगा। गर्भ के ऊपर असर डालनेवाली यह 'शुक्रशोणित-प्रकृति' सबसे प्रथम है। दूसरी है काल और गर्भाशय की प्रकृति। आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक ऋतु में अलग अलग दोषों (वात, पित्त, कफों) का प्राधान्य रहता है। अब यदि वर्षाऋतु में गर्भ रहा है, तो उस पर 'वर्षासु मारुतो दुष्टः' के अनुसार वायु का प्रभाव पड़ेगा। यदि शरदृऋतु में गर्भस्थिति हुई है, तो पित्त का और वसन्त में कफ का

प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार माता के गर्भाशय में जिस दोष की प्रधानता होगी उसका भी प्रभाव बच्चे पर पड़े बिना न रहेगा। यह 'कालगर्भाशयप्रकृति' दूसरी है। तीसरी है माता के आहार विहार की प्रकृति। गर्भ के दिन से लेके प्रसव के दिन पर्यन्त बच्चे के शरीर का पालन पोषण माता के शरीर से ही होता है। माता जैसा भोजन करती है वैसा ही रुधिर उसके शरीर में बनता है और उसी से बच्चे के शरीर का पालन पोषण होता है। माता के भोजन में जिस दोष की प्रधानता रहेगी वही बच्चे की प्रकृति पर प्रभाव डालेगा। यह तीसरी प्रकृति हुई। चौथी है 'महाभूतविकारप्रकृति' बच्चे के प्रारब्ध कर्मों के अनुसार जिन उत्तम, मध्यम या निकृष्ट विकारों—पृथिवी, जल आदि पाँच महाभूतों के कार्यों—से उसके शरीर का आरम्भ हुआ है उनका प्रभाव भी उसकी प्रकृति पर पड़ेगा। ये चारों प्रकृतियाँ जिस किसी एक या अनेक दोषों से प्रभावित होंगी उसी से गर्भ भी प्रभावित होगा। जिस किसी दोष की अधिकता या प्रधानता होगी वही उस बच्चे की जन्मसिद्ध प्रकृति कहायेगी। इसी कारण कोई लोग जन्म से वातप्रकृति, कोई पित्तप्रकृति, कोई कफप्रकृति और कोई मिश्रित प्रकृति के होते हैं। कोई कोई समधातु भी होते हैं। इनमें सब धातु समान रहते हैं।

यह तो सब कुछ हुआ। माना कि मनुष्य की प्रकृति गर्भ में ही बन जाती है। पूर्वोक्त चार प्रकृतियों का प्रभाव पड़ने के कारण उनमें जो दोष प्रधान और सहायसम्पन्न होता है वही मनुष्य की प्रकृति बनता है और यदि कोई विशेष कारण उपस्थित न हो जाय, तो वही प्रकृति जन्म

भर रहती है। परन्तु रोगी की परीक्षा के अवसर पर यह ढंग अव्यवहार्य एवं अनुपयोगी है। वैद्यजी जब किसी रोगी को देखने जायँ, तो वहाँ उसके गर्भ की आदि जनक रज, वीर्य की बूँदों का पता लगाना सम्भव नहीं है। गर्भ किस ऋतु में रहा था और उसकी माता ने उस समय क्या क्या खाया पिया था, इसका पता सब जगह खुफ़िया पुलिस को भी न लगेगा। अतः सिद्धान्त रूप से ठीक होने पर भी पूर्वोक्त ढंग व्यवहार में उपयोगी नहीं है। इसी कारण महर्षि चरक ने पूर्वोक्त प्रकरण को कुछ और आगे बढ़ाया है। उन्होंने वात, पित्त, कफ के प्रधान गुणों के आधार पर कुछ ऐसे स्पष्ट और प्रत्यक्षसिद्ध लक्षण बताये हैं जिनसे मनुष्य की प्रकृति की परीक्षा बड़ी सुगमता से हो जाती है और चिकित्सा के मार्ग में कोई कठिनता नहीं रह जाती। चरक, विमानस्थान, आठवें अध्याय में लिखा है—

"श्लेष्मा हि स्निग्ध,श्लक्ष्ण,मृदु,मधुर,सार,सान्द्र मन्द,-स्तिमित,गुरु,शीत,विज्जलाच्छः, तस्य स्नेहात् श्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वात् श्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वात् दृष्टिसुख-सुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः सार-त्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वात् उपचितपरिपूर्णसर्व-गात्राः, मन्दत्वात् मन्दचेष्टाहारव्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भा-ऽल्पक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्या-दल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धि-बन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नवर्णस्वराश्च। त एवं गुणयोगात् श्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विन आयुष्मन्तश्च भवन्ति।"

अर्थात् श्लेष्मा (कफ) में स्निग्धता आदिक अनेक

गुण हैं। उन्हीं के अनुसार कफप्रकृति पुरुषों में भी गुणों की उत्पत्ति होती है। कफ स्निग्ध और श्लक्ष्ण है अतः जिसकी प्रकृति कफप्रधान होती है उसका शरीर स्निग्ध और श्लक्ष्ण रहता है। चिकनई दो प्रकार की होती है। घी, तेल भी चिकने होते हैं और रन्दा फेरी हुई लकड़ी भी चिकनी होती है। संस्कृत में इसके लिये अलग अलग दो शब्द हैं। घी को स्निग्ध और रन्दी हुई लकड़ी को श्लक्ष्ण कहा जाता है। जिनकी प्रकृति में कफ की प्रधानता है उनके शरीर में ये दोनों बातें मिलेंगी। कफ मृदुस्वभाव है अतः कफप्रकृति पुरुष देखने में सुन्दर, सुकुमार और स्वच्छ शरीरवाले होते हैं। कफ की मधुरता के कारण पुरुषों में वीर्य, मैथुन और सन्तानों की अधिकता होती है। कफ सार (बल) भूत माना गया है अतः कफप्रधान पुरुषों का शरीर बलिष्ठ और सुसङ्गठित होता है। कफ की सान्द्रता (गाढ़ेपन) के कारण सब अङ्ग सुडौल और भरे हुए होते हैं। उसकी मन्दता के कारण श्लेष्मल पुरुषों की क्रियायें भोजन और वाणी धीरे धीरे होती हैं। कफ के स्तैमित्य (निश्चलता) के कारण कफप्रकृति पुरुष किसी काम के करने में जल्दबाज़ी नहीं करते और न उनके मन में घबराहट या अन्य कोई विकार जल्दी उत्पन्न होते हैं। कफ के गुरुत्व के कारण बलिष्ठ और स्थिर गति प्राप्त होती है। उसके शैत्य के कारण कफप्रधान पुरुषों को भूख, प्यास, गर्मी और पसीना कम होता है। श्लेष्मा की विज्जलता (पिच्छिलता) से शरीर के जोड़ और गठन मज़बूत होती है। एवं उसकी स्वच्छता के कारण प्रसन्नरूप, प्रसन्नमुख, प्रसन्नवर्ण और प्रसन्नस्वर के पुरुष पैदा होते

हैं। इन्हीं गुणों के कारण कफप्रधान पुरुष बलवान्, धनवान्, विद्यावान्, ओजस्वी और आयुष्मान् होते हैं।

"पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहा उष्णमुखाः सुकुमारावदातगात्राः प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलकालकाःक्षुत्पिपासावन्तः क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः, तैक्ष्ण्यात्तीक्ष्णपराक्रमास्तीक्ष्णाग्नयः प्रभूताशनपानाः क्लेशासहिष्णवो दन्दशूकाः, द्रवत्वात् शिथिलमृदुसन्धिमांसाः प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च विस्रत्वात्पूतिवक्षःकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबलामध्यायुषोमध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति।" (च० वि० अ० ८)

पित्त उष्णस्वभाव, तीक्ष्ण, उग्रगन्ध (दुर्गन्ध), अम्ल (खट्टा) और कड़वा होता है। इसकी उष्णता के कारण पित्तप्रकृति पुरुष गरमी सहन करने में असमर्थ और सुकुमार होते हैं। इनके मुख में, गर्मी की अधिकता के कारण, झाँई, मौहासे अधिक होते हैं। इनके देह में काले तिल अधिक होते हैं। भूख, प्यास खूब लगती है, बालों में सफ़ेदी और मुँह पर झुर्रियाँ शीघ्र आती हैं। सिर के बाल उड़ने लगते हैं। प्रायः कोमल, थोड़े एवं भूरे रंग के बाल होते हैं। ये सब पित्त की उष्णता के कारण होते हैं। और उसकी तीक्ष्णता के कारण पित्तप्रकृति पुरुषों का पराक्रम तीक्ष्ण और जठराग्नि तीव्र होते हैं। भोजन भी बहुत करते हैं और पानी भी बहुत पीते हैं, क्लेश सहन करने में असमर्थ होते हैं और बार बार खाते पीते हैं। पित्त की द्रवता (पतलेपन) के कारण इनके शरीर के जोड़ और मांसपेशियाँ शिथिल और कोमल रहती हैं, पाखाना, पेशाब

और पसीना अधिक मात्रा में होता है। पित्त की विस्रता (दुर्गन्ध) के कारण इनकी छाती, बग़ल, मुँह, सिर तथा अन्य शरीर में दुर्गन्ध आती है। उसकी कटुता और अम्लता के कारण पैत्तिक पुरुषों के वीर्य, मैथुन और सन्तान थोड़े होते हैं। पित्त के इन पूर्वोक्त गुणों के कारण पैत्तिक पुरुषों का बल, आयु, ज्ञान, विज्ञान, धन और साधनसामग्री मध्यम श्रेणी की होती है।

"वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद्वातला रूक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामभिन्नमन्दसक्तजर्जरस्वराः, जागरूकाश्च भवन्ति, लघुत्वाच्च लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः, चलत्वादनवस्थितसन्ध्यस्थिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः बहुत्वाद्बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः शीघ्रत्वात् शीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रोत्त्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च शैत्यात् शीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः, पारुष्यात्परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाङ्गाः, वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सततसन्धिशब्दगामिनश्च भवन्ति त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाऽल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्च अल्पसाधनाश्च अधन्याश्च भवन्ति। संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः। सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः इत्येवं प्रकृतितः परीक्षेत।" (चरक, विमा० अ० ८)

रूक्षत्व, लघुत्व, चलत्व, बहुत्व, शीघ्रत्व, शीतत्व, परुषत्व और विशदत्व ये वायु के गुण हैं। इनमें से रूक्षता के कारण वातिक पुरुषों के शरीर रूक्ष, दुर्बल और छोटे होते हैं। उनके गले का शब्द रूखा, धीमा, फटा हुआ सा, मन्द, तुतलाता हुआ (सक्त) और जर्जर (फटे बाँस, फूटे ढोल या टूटी थाली के सदृश) होता है। और इन्हें

नींद कम आती है। वायु की लघुता के कारण वातिक पुरुषों की गति, चेष्टा, आहार और बातचीत में हलकापन और चञ्चलता रहती है। उसकी चञ्चलता के कारण इनके शरीर के जोड़ों, हड्डियों, भौंहों, जबड़ों और ओठों में एवं जिह्वा, सिर, कन्धे और हाथ पैरों में अवस्थितत्व (स्थिरता) नहीं होती। ये अपने किसी न किसी अङ्ग से कोई न कोई हरकत ज़रूर करते रहेंगे। वायु के बहुत्व के कारण वातिक पुरुष बकवासी होते हैं और उनके शरीर में बहुत सी उभरी हुई रगें दिखाई देती हैं। शीघ्रता (वायु की) के कारण इनके कार्यों का आरम्भ और मन का क्षोभ, विकार बहुत शीघ्र होता है। घबराहट, प्रेम और वैराग्य इन्हें अति शीघ्र हुआ करते हैं। सुनी हुई बात झट याद कर लेते हैं परन्तु शीघ्र ही भूल भी जाते हैं। वायु की शीतता के कारण ये ठण्डक नहीं सह सकते। झुरझुरी, कपकपी और जकड़न इन्हें जल्दी होने लगती है। उसकी परुषता के कारण इनके केशों, दाढ़ी, मूछों और रोमों में एवं नख, दाँत, मुँह, हाथ पैर तथा अन्य शरीर में परुषता (रूखापन) रहती है। वायु के वैशद्य के कारण वातप्रकृति पुरुषों के अङ्ग प्रायः फटा करते हैं और क्रिया के समय हड्डियों तथा जोड़ों से चटचट की आवाज़ हुआ करती है। वायु के इन पूर्वोक्त गुणों के कारण वातल पुरुष प्रायः अल्पबल, अल्पायु, अल्पापत्य, अल्पसाधन और अधन्य (तथा धनहीन) हुआ करते हैं।

इस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों प्रकृतियों के विशेष विशेष गुणों का पृथक् पृथक् उल्लेख हुआ है। बहुत से पुरुष ऐसे भी हैं जिनकी प्रकृति में दो दो दोषों का मिश्रण रहा करता है। उनमें वात पित्त, वात कफ, या कफ पित्त

आदि के मिश्रित लक्षण मिला करते हैं। सबके गुणों से समयुक्त पुरुष को समधातु जानना चाहिये। इस प्रकार इन लक्षणों के द्वारा रोगी की प्रकृतिपरीक्षा करनी चाहिये।

जिस प्रकार रोगी की प्रकृति होती है उसी प्रकार द्रव्यों की भी होती है। संसार का कोई द्रव्य वात, पित्त, कफ से खाली नहीं है, यह बात हम कह चुके हैं। स्थूल जगत् की आरम्भक—एटम्स और एलेक्ट्रान्स (Atoms & Electrons) तथा अणुओं की जननी—पञ्चतन्मात्राओं में ही, सत्त्व, रजस्, तमस् के तारतम्यानुसार, ये तीनों गुण (वात, पित्त, कफ) उत्पन्न हो जाते हैं और इन्हीं के अनुसार समस्त सृष्टि का प्रत्येक परमाणु किसी न किसी गुण से अनुस्यूत है, यह बात हम बता चुके हैं। यही कारण है कि प्राणियों का प्रत्येक शरीर, खाने पीने की हरएक वस्तु, ऋतुओं का प्रत्येक अङ्ग और दिन रात का हरएक मिनिट अपने साथ किसी न किसी गुण (वात, पित्त या कफ) का लगाव अवश्य रखता है। आयुर्वेद में इन सब बातों का विवेचन है और इतनी सुन्दरता तथा सुगमता के साथ है कि शीघ्र ही हृदयङ्गम भी हो जाता है और उसके अनुसार परीक्षा करने में भी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। अथच यह मार्ग इतना परिपूर्ण भी है कि न तो संसार का भूत भविष्यत् वर्तमान कोई रोग इसके बाहर जा सकता है, न किसी रोगी की प्रकृति इससे परे रह सकती है और न कोई द्रव्य (औषध, पथ्य आदि) इसकी सीमा को उल्लङ्घन कर सकता है। आगे चलकर इसका थोड़ा विवरण हम और भी करेंगे।

हाँ, तो यह 'प्रकृतिपरीक्षा' हुई। अब परीक्षाओं में

दूसरा नम्बर 'विकृतिपरीक्षा' का है। इसकी भी दो एक बातें सुन लीजिये, महर्षि चरक कहते हैं—

"विकृतितश्चेति—विकृतिरुच्यते विकारस्तत्र विकारं हेतु,-दोष,दूष्य,प्रकृति देश,काल,वलविशेषैर्लिङ्गतश्च परीक्षेत, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः यस्य हि व्याधेर्दोष,दूष्य,प्रकृति,देश,कालबलसाम्यं भवति महच्च हेतुलिङ्गबलम् स व्याधिर्बलवान् भवति। तद्विपर्ययाच्चाल्पबलः। मध्यबलस्तु दोषादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यबलत्वाच्चोपलभ्यते।" (चरक, विमा०, अ० ८)

विकृति के द्वारा भी रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। विकृति का अर्थ है विकार, यानी रोग। उसकी परीक्षा हेतु, दोष, दूष्य, प्रकृति, देश और काल का बल देखकर तथा रोग के चिह्न देखकर करनी चाहिये। हेतु आदिकों का बल जाने विना रोग की प्रबलता या दुर्बलता का पता नहीं चल सकता। रोग का हेतु होता है, मिथ्या (अहितकर) आहार और विहार। रोगी की परीक्षा करते समय इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि रोग के हेतु का बल कितना है, क्योंकि बहुत से रोग ऊपरी लक्षणों से कम मालूम होते हैं, परन्तु उनकी जड़ बहुत गहराई में होती है, एवं बहुत से ऊपर से बहुत भयानक मालूम होने पर भी मूल में गम्भीर नहीं हुआ करते अतः रोग के हेतु का जानना परमावश्यक है। जिस रोग का हेतु भयानक है वह बाहर से तुच्छ प्रतीत होने पर भी एक न एक समय भयानक रूप धारण कर सकता है। कल्पना कीजिये कि दो आदमियों को थूक में ज़रा ज़रा सा ख़ून दीख पड़ा। बाहर से दोनों की बात एक सी है, परन्तु एक को गले में

ज़रा सी खराश हो जाने से या कुश्ती लड़ते समय धक्का लग जाने से नाममात्र रुधिर आया है और दूसरे को सैकड़ों बोतल शराब पीने, तावड़तोड़ अण्डे खाने और धड़ाधड़ वेश्यागमन के बाद ज़रा सा खून आया है। इन दोनों के बाह्य रोग का रूप चाहे एक सा भले ही हो परन्तु दूसरे रोगी का हेतु इतना प्रबल है कि वह भयानक रक्तपित्त और राजयक्ष्मा उत्पन्न कर सकता है। चिकित्सक का धर्म है कि वह इस बात पर पूरा ध्यान रक्खे।

जिस दोष (वात, पित्त, कफ) ने रोग पैदा किया है— उसकी प्रबलता कितनी है, रोगी के शरीर में वह किस दर्जे तक बिगड़ा है, यह बात भी देखनी चाहिये।

रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य ये सात धातु दूष्य होते हैं। रोग और दोष की गहराई कितनी है, वह त्वचा में ही है या रुधिर तक पहुँच गया है अथवा मांस, चर्बी, हड्डी तक पहुँच चुका है या उससे भी आगे बढ़ गया है, यह बात भी जाननी चाहिये।

रोगी की प्रकृति, जिसका अभी विस्तृत वर्णन हो चुका है, उसके साथ भी रोग (विकार) का मिलान करके देखना आवश्यक है।

जिस देश में रोगी रहता है, वहाँ की जल, वायु में कैसा प्रभाव है, रोग के ऊपर उसका कितना और कैसा असर पड़ेगा, इस बात का जानना भी ज़रूरी है।

जिस काल में रोग उत्पन्न हुआ है उसका भी ध्यान रखना चाहिये। गरमी के दिनों में आया हुआ जाड़ा बुखार उतना कठिन नहीं होता जितना कि जाड़े का जाड़ा। इसके अतिरिक्त रोगी के बाल्यकाल, यौवनकाल और वार्धक्य

tances are endless and will continue to be created, western system will never complete an exhaustive examination of all the medicines or the forms of diseases.

2. Western Science depends only on two *Pramānas*—Perception and Inference. It has no room for *Agama*. For *Agama*, *āptas* are necessary. The *āptas* are those who have the knowledge of objects which are beyond the reach of Perception and Inference. This is not possible without the knowledge obtained through *Yoga* or through Divine favour. As Science has no room for these, it can never go beyond the bounds of Perception and Inference. The range of Perception and Inference is very narrow and as a consequence scientific knowledge must remain limited and narrow.

3. Western Science can proceed no farther than the electr ons, because Perception and Inference end here. It is therefore impossible for Science to trace the primal elements.

4. Western system of medicine has no place for the consideration of *Manas* and *Atma* as in Ayurveda and hence it can never claim completness.

5. Western system of medicine has not got, nor can ever have, any method of those exhaustive diagnosis which has been described by Charaka, of time, place, strength, habits etc, of the patient. Hence that system is never capable of prescribing different medicines for different diseases in different times, places and conditions.

काल का भी ध्यान रखना चाहिये। बच्चा कफप्रधान, जवान आदमी पित्तप्रधान, और बुड्ढा वातप्रधान होता है। यह वयःपरीक्षा कहाती है।

इसके अतिरिक्त लक्षणों के द्वारा भी रोग के बलाऽबल का निर्णय करना चाहिये। जिस ज्वर के लक्षणों में सिर का दर्द, गले का सूखना और नींद का न आना लिखा है उसमें यह भी देखना चाहिये कि ये सब बातें रोगी को कहाँ तक प्रबल हैं। एक को तो रात में एक मिनिट भी नींद नहीं आती और दूसरे को थोड़ी कम आती है, इन दोनों का दोष एक सा नहीं हो सकता। एक के सिर में मीठा मीठा दर्द है और दूसरे का सिर फटा जाता है। इन दोनों के दोष का बल एक सा नहीं है।

जिस पुरुष की प्रकृति भी वातप्रधान है, दूष्य (रस आदि) भी वातप्रधान है, देश भी वातप्रधान है, काल भी वातप्रधान है, जो रोग हुआ है वह भी वातप्रधान है और जिस हेतु से रोग हुआ है वह भी बड़ा विकट है एवं रोग के लक्षण भी सब के सब हैं और बढ़े हुए हैं तो ऐसे रोगी का ईश्वर ही मालिक है। इन कारणों के मध्य बल और क्षीण बल से रोग की कष्टसाध्यता और सुखसाध्यता का निर्णय होता है।

इस प्रकार यह विकृतिपरीक्षा समाप्त हुई। इन प्रकृतिपरीक्षा और विकृतिपरीक्षाओं के अतिरिक्त सारपरीक्षा, संहननपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सात्म्यपरीक्षा, आहारशक्तिपरीक्षा, व्यायामशक्तिपरीक्षा और नाड़ीपरीक्षा आदि भी हैं, जिन्हें हम विस्तार के भय से छोड़े देते हैं जिन्हें उनको देखिये और ऋषियों के अगाध ज्ञानसागर में

आनन्दनिमग्न होना हो वे चरक पढ़ें। नाड़ीपरीक्षा उससे बाहर की है। परन्तु है सबसे श्रेष्ठ। सब परीक्षायें एक तरफ़ और नाड़ीपरीक्षा एक तरफ़। 'सारी खुदाई एक तरफ़ और फ़ज़ले इलाही एक तरफ़।' रोगी का स्वयं कहा हुआ हाल ग़लत हो सकता है, घरवालों की बताई हुई बातें झूठ हो सकती हैं—बाहरी लक्षणों के अनुसार और तमाम परीक्षाओं के अनुसार किये हुए निर्णय असङ्गत हो सकते हैं, परन्तु नाड़ीपरीक्षा का जिसे अच्छा ज्ञान है नाड़ी की गति विधि परखने की पूर्ण प्रतिभा जिसे प्राप्त है, उसकी की हुई नाड़ीपरीक्षा पत्थर की लकीर समझिये। रोगों की असलियत, दोषों का बलाऽबल, रोगी के मरने जीने का हाल, आसन्न भविष्य में आनेवाले रोगों का हाल तथा अन्य नितान्त आवश्यक बातें जैसी नाड़ीपरीक्षा से मालूम होती हैं, वैसी किसी से नहीं हो सकतीं। परन्तु हमें खेद इस बात का है कि उन सब बातों का वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। वह अनुभव की बात है। आँख मीचकर और ज़बान बन्द करके समझने की चीज़ है। देखने और बकने की वस्तु नहीं। कारण यह है कि शब्द और अनुमान के द्वारा वस्तु के सामान्य रूप का ज्ञान कराया जा सकता है। उसकी विशेषता का ज्ञान सिवा प्रत्यक्ष के और किसी प्रमाण से नहीं हो सकता। आप रोज़ गुड़ खाते हैं। यह भी जानते हैं कि वह मीठा होता है। कहते भी हैं कि मीठा होता है। साथ ही छुहारा, मुनक्का, जलेबी, सन्तरा और केले को भी आप मीठा बताते हैं और या जी अनुभव करते हैं कि इन सबके मिठास में परस्पर भी भेद है।

एक की मिठास दूसरे की मिठास से नहीं मिलती, लेकिन हज़ार कोशिश करने पर भी आप मिठास के उन पारस्परिक भेदों का वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं कर सकते। आप क्या, कोई भी नहीं कर सकता। ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य की टीका 'भामती' में श्रीवाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि—

"द्राक्षामाक्षिकक्षीरेक्षुप्रभृतिषु स्फुटमनुभूयमाना अपि मधुरिमभेदा न शक्याः सरस्वत्यापि शब्दैराख्यातुम्।"

नाड़ीपरीक्षा भी प्रत्यक्ष का विषय है। उसकी बारीकियाँ अनेक रोगियों की नाड़ियाँ दिखा दिखा कर समझाई जा सकती हैं, पर वर्णन में नहीं आ सकतीं।

इसके अतिरिक्त एक सत्त्वपरीक्षा भी है। सत्त्व का अर्थ है मन। हम यह कह चुके हैं कि मनुष्य के शरीर पर उसके मन का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। अतः रोगी के शरीर की परीक्षा करते समय उसके मन की भी परीक्षा करना आवश्यक है। चरक ने अनेक परीक्षाओं में एक सत्त्वपरीक्षा भी रक्खी है। इसके अनुसार तीन प्रकार के प्राणी होते हैं। प्रवरसत्त्व, मध्यसत्त्व और हीनसत्त्व।

"सत्त्वमुच्यते मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्, तत्त्रिविधं बलभेदेन, प्रवरं मध्यमवरं चेति। अतश्च प्रवरमध्याऽवरसत्त्वा भवन्ति पुरुषाः। तत्र प्रवरसत्त्वाः स्वल्पास्ते सारेषूपदिष्टाः स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात्; मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनात्मानं परैश्चापि संस्तभ्यन्ते; हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रतिशक्यन्ते संस्तम्भयितुम् महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांस-

शोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ।" (च० वि० अ० ८)

'सत्त्व' शब्द का अर्थ है मन। वह आत्मा के संयोग से शरीर का प्रेरक होता है। मानसिक बल के भेद से तीन प्रकार के पुरुष होते हैं । प्रवरसत्त्व, मध्यसत्त्व और हीनसत्त्व। प्रवरसत्त्व पुरुष बहुत कम होते हैं। ये सत्त्वसार कहाते हैं। आठ प्रकार के सारों में इनके लक्षण कहे हैं। इनका शरीर चाहे छोटा और दुबला पतला ही क्यों न हो, परन्तु ये बड़ी बड़ी पीड़ाओं और व्यथाओं में भी नहीं घबराते। इनकी चेष्टा से व्यथा की गम्भीरता का पता नहीं चलता। प्रत्यक्ष में ये व्यथारहित दीखते हैं, क्योंकि इनमें सत्त्वगुण विशेष रहता है। मध्यसत्त्व पुरुष दूसरों को सहिष्णु देखकर अपने आप भी धैर्य बाँधने और कष्ट सहने का यत्न करते हैं। कुछ अपने आप और कुछ दूसरों के समझाने बुझाने पर जी कड़ा करते हैं। हीनसत्त्व पुरुष न स्वयं धैर्य रखते हैं न किसी के समझाने से समझते हैं । विशाल देह होने पर भी छोटी छोटी तकलीफ़ों में बेतरह घबराने लगते हैं । भय, शोक, लोभ आदि में झट से फँस जाते हैं। भयानक और बीभत्स बातों से भी डरने लगते हैं । मनुष्य या पशु का मांस या रुधिर देखने से ही इनका चेहरा उतर जाता है, मूर्च्छा होने लगती है और गिरने लगते हैं। कभी कभी मर भी जाते हैं। इसलिये वैद्य को उचित है कि प्रकृति आदि की यथावत् परीक्षा करके रोग और रोगी के बलाऽबल का निर्णय करे। केवल शरीर की विशालता देखकर उसके मन की पुष्टता मान लेना भ्रम है। रोगी हाय हाय करता है, बुरी तरह चिल्लाता है, केवल इसी कारण उसके रोग को प्रबल

आदि से और किस प्रकार के आचरणों से रोग उत्पन्न हुआ है। इसी का नाम निदान है। इसका जानना बहुत आवश्यक है। चिकित्सा का पहला अङ्ग यही है। सुश्रुत में लिखा है—

"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्"

अर्थात् जिस कारण से रोग पैदा हुआ है उसे सबसे पहले बन्द करना चाहिये। कल्पना कीजिये कि किसी आदमी को अधिक पिश्ते खाने से पेशाव में जलन पैदा हुई है तो 'गँवार वैद्य' का काम है कि वह सबसे पहले रोगी के पिश्ते खाना बन्द कराये। ऐसा करने से कभी कभी प्रकृति स्वयं ही भीतर के दोष को बाहर निकालने की चेष्टा में सफल हो जाती है और रोगी बिना कोई दवा दिये ही अच्छा हो जाता है। परन्तु यदि पिश्ते बन्द न किये गये तो दवा देने पर भी पूरा लाभ न होगा। 'कन भर दवा पर मन भर परहेज़' की कहावत 'गँवार वैद्यों' में प्रचलित है। 'जो चाहो सो खाओ'—'जो हज़म हो सो खाओ' इत्यादिक ऐलोपैथी के 'सिद्धान्त' ही यहाँ गँवारपन या उच्छृङ्खलता के नाम से पुकारे जाते हैं।

परन्तु यह नियम नहीं है कि आज किया हुआ मिथ्या आहार-विहार आज ही रोग उत्पन्न कर दे। कभी कभी पास के निदान से रोग नहीं उत्पन्न होता, बल्कि रोग का निदान बहुत दूर रहता है। एक आदमी जो दो चार दिन से तो बराबर मूँग की खिचड़ी ही खा रहा है, परन्तु १०-२० दिन पहले खूब शराब, कबाब और अण्डे उड़ा चुका है तो अब पास की खिचड़ी में इसके रोग का निदान ढूँढ़े न मिलेगा। इसके सिवा एक कुपथ्य से एक ही रोग उत्पन्न हो, यह नियम नहीं है। एक प्रकार के कुपथ्य से अनेक

रोग उत्पन्न होते हैं और कभी कभी एक कुपथ्य से एक ही रोग उत्पन्न होता है। एवं अनेक कुपथ्यों से एक रोग भी उत्पन्न होता देखा गया है और अलग अलग अनेक रोग भी उत्पन्न होते देखे गये हैं। अतः केवल निदान रोग का पूर्ण निश्चय करा देने के लिये पर्याप्त नहीं है, इस कारण निदान के आगे 'पूर्वरूप' का जानना भी आवश्यक है। हरएक रोग के पूर्वरूप अलग अलग होते हैं। जो रोग आगे होनेवाला होता है वह अपने आने से पहले कुछ अपने नौकर चाकरों को भेज देता है। आयुर्वेद में हरएक रोग के पूर्वरूपों का वर्णन है जिससे रोग उत्पन्न होने के पहले ही उसके चेले चापरों को देखकर यह जाना जा सकता है कि यह पेशखेमा किस रोग की अगवानी के लिये तयार किया जा रहा है। आयुर्वेद ने उसका इलाज भी बताया है। जिससे यदि आने-वाले रोग का डेरा तम्बू उखाड़ फेंका जाय तो फिर वह आने की हिम्मत ही नहीं करता। जहाँ 'राजद्रोही' लोग स्वागत करने को तयार नहीं, वहाँ साहब बहादुर जाकर क्या करें?

रोग की असाध्यता का ज्ञान भी 'पूर्वरूप' से होता है। जिस रोग के पूर्वरूप में जितने लक्षण लिखे हैं, वे यदि सब के सब अधिक मात्रा में दीख पड़ें तो समझना चाहिये कि यह रोग नहीं, बल्कि मृत्यु आ रही है। यदि अनेक रोगों के पूर्वरूप दीख पड़ें तब भी आनेवाले रोग की भयानकता सूचित होती है। रोगविशेष का निर्णय करने में भी पूर्व-रूप सहायता देता है।

कल्पना कीजिये, किसी पुरुष को हल्दी की तरह पीला या खून के रंग का पेशाब हुआ। उसने तुरन्त किसी वैद्य से कहा। अब ये लक्षण एक प्रकार के प्रमेह में भी हो

सकते हैं और यदि आगे रक्तपित्त होनेवाला हो तो उसके पूर्वरूप में भी हो सकते हैं। प्रमेह के पूर्वरूप और हैं। अब वैद्य उस रोगी से प्रमेह के पूर्वरूपों का नाम ले ले कर पूछेगा कि तुम्हें इस पेशाब से पहले ये ये बातें मालूम हुई थीं या नहीं। यदि प्रमेह के पूर्वरूप का पता लगा तब तो वह प्रमेह है और नहीं तो रक्तपित्त का पेशखेमा है। यदि रोगी हाल बताने में असमर्थ हुआ तो नाड़ी सहायता करेगी।

पूर्वरूप के बाद रोग की परीक्षा 'रूप' के द्वारा होती है। रोग के स्वरूप को ही रूप कहते हैं। जिस रोग के जो जो लक्षण लिखे हैं, वे ही उसका रूप हैं। ऐलोपैथी में भी रोगों के रूपों का वर्णन है और होम्योपैथी में तो रोगसम्बन्ध-रहित केवल रूपों का ही वर्णन है। परन्तु ऐलोपैथी आदि में न 'निदान' है, न 'पूर्वरूप', न 'उपशय' न 'संप्राप्ति।' केवल रूप ही है, जो कि रोग का पूरा निर्णय कराने और चिकित्सा की सर्वाङ्गीणता का मार्ग दिखाने में अधूरा है।

रोग की परीक्षा में 'उपशय' बड़े काम की चीज़ है। जहाँ लक्षण जटिल हो जाते हैं या रोगी लक्षणों के बताने में असमर्थ होता है, बच्चा या मूर्ख होता है, वहाँ 'उपशय' रोग की विशेषता के ज्ञान में बड़ी सहायता पहुँचाता है। किस किस वस्तु के खाने पीने से रोग बढ़ता है या किस किस समय रोग बढ़ता है अथवा ठण्डक में, गरमी में, हवा लगने से या बन्द कमरे में जाने से कब रोग बढ़ता है और कैसी दशा में कम हो जाता है, इन बातों का जानना आवश्यक है। जो आहार-विहार आदि रोग का शमन करते हैं, वे उपशय और जो उसे बढ़ाते हैं वे अनुपशय कहाते हैं।

सबसे अन्तिम परीक्षा 'सम्प्राप्ति' कहाती है। इसे

समस्त परीक्षाओं का निचोड़ समझना चाहिये। ...न कौन दोष किस किस मात्रा में है। किस दोष की प्रधानता है? कौन मध्यम है और कौन सबसे कम? प्रधान का बल कितना है और अन्यों का कितना? रोगी की प्रकृति, सत्त्वसंहनन, सार, आयु आदि के कारण और देश काल के कारण दोष और रोग ने कितना बल प्राप्त किया है? और आगे कहाँ तक बल प्राप्त कर सकते हैं? इत्यादिक बातों का निर्णय 'सम्प्राप्ति' कहाता है। कितने कितने बल की कौन कौन गुणवाली क्या क्या औषध रोगी को देना चाहिये, इसका निश्चय सम्प्राप्ति के अनुसार किया जाता है।

कल्पना कीजिये कि आपने एक रोगी देखा जिसके सिर में दर्द है, ज्वर है, शरीर कुछ काँपता है, गला और ओंठ सूखते हैं, जाड़ा भी लगता है, आँखों और छाती में जलन भी होती है, पानी पीने को जी नहीं चाहता, खुश्की होने पर भी पानी अच्छा नहीं लगता, मुँह का स्वाद एकदम मीठा है और चेंप सा घुला (मुँह में) मालूम होता है और नींद नहीं आती। अब डॉक्टर साहब तो जाड़े बुखार का नाम सुनते ही झट कुनैन की ओर हाथ बढ़ायेंगे। बाक़ी लक्षणों में से अधिकांश उनके लिये फ़जूल हैं। उन पर विचार करने की न उन्हें आवश्यकता है न उनके यहाँ उस तरह विचार करने का कोई मार्ग है। ऐलोपैथी या उसकी जड़ साइन्स ने अब तक इसके सम्बन्ध में कुछ जाना ही नहीं है। परन्तु एक वैद्य जो कि डॉक्टर साहब के शब्दों में 'वाक़ई पुराने ढर्रे का गँवार' है, उसके विचार करने के लिये इसमें बहुत कुछ मसाला है। वह यदि सचमुच आयुर्वेद का तत्त्वज्ञ है, केवल भारी पगड़ी बाँधने और मुँह फुलाके बैठ जाने के ज़ोर पर वैद्य नहीं

समझ लेना भूल है और रोगी के व्याकुल न होने के कारण उसके रोग की क्षुद्रता का अनुमान कर डालना भी मूर्खता है। प्रवरसत्त्व पुरुष, घोर व्यथा होने पर भी, मरते दम तक, अधिक व्याकुल नहीं होते। मध्यसत्त्वों और हीन-सत्त्वों की तरह वे कभी हाय हाय नहीं करते।

"एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्जानां भावानां प्रवरमध्यावरवि-भागेन बलविशेषं विभजेत। विकृतिबलत्रैविध्येन तु दोषबलत्रै-विध्यमनुमीयते। ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रित्वं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति।" (च० विमा० अ० ८)

इस प्रकार प्रकृति, सार, सात्म्य आदि पूर्वोक्त परीक्षा-प्रकारों से रोगी के बल की प्रवरता, मध्यता और अवरता का निर्णय करे एवं विकृति (हेतु, दोष, दूष्य, काल, देश, लक्षण, उपद्रव, आयु आदि) के द्वारा रोग की उत्कृष्टता, मध्यता अथवा हीनता का निर्णय करे। फिर औषधों पर विचार करे। एक योग में लिखी हुई सब दवाओं के प्रभाव पर अलग अलग विचार करे। यदि एक ही औषध है तो उसी के रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव पर विचार करना चाहिये। किसी वस्तु के खाने पर जो स्वाद प्रतीत होता है, वह रस है। पेट में पहुँचकर पचने पर जो रस पैदा होता है, वह विपाक कहाता है। वीर्य दो प्रकार का होता है—शीत और उष्ण। आप चाहे जो कुछ खाइये, विपाक उसका तीन ही तरह का होगा—मधुर, अम्ल और कटु। वीर्य दो प्रकार का होता है—शीत और उष्ण। इसके विचार से दो ही प्रकार के पदार्थ होते हैं—शीतवीर्य और उष्णवीर्य। शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण आदि वीर्य जो कई आचार्यों ने माने हैं वे सब इन्हीं दो के अन्तर्गत हो

जाते हैं। यूनानी चिकित्सक अब भी इन्हें अलग अलग मानते हैं। आयुर्वेद में इनमें से अनेक गुणों के अन्तर्गत हैं और कुछ इन्हीं दो वीर्यों के अन्तर्गत हैं। देखिये—

मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधं केचित् केचिद्द्विविधमास्थिताः ॥ ६६ ॥
शीतोष्णमिति, वीर्यन्तु क्रियते येन या क्रिया।
नावीर्यं क्रियते किञ्चित्सर्वा वीर्यकृता क्रिया ॥ ६७ ॥

(चरक सूत्र० अ० २६)

यह हम कह चुके हैं कि पञ्चतन्मात्राओं से स्थूल जगत्—पञ्चमहाभूतों—की उत्पत्ति होती है और सम्पूर्ण स्थूल वस्तुएँ इन्हीं महाभूतों से बनी हैं। अतः प्रत्येक वस्तु में इनके गुण भी होने चाहिये। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशनामक पाँच महाभूतों में यथाक्रम गुरुत्व, स्नेह, तीक्ष्णता, रूक्षता और लघुता ये गुण होते हैं। अन्य अनेक गुण इन्हीं के अन्तर्गत हैं। अब जिस द्रव्य में जिस महाभूत की प्रधानता है—जिसके बनने में जिस महाभूत का अधिक हिस्सा है—उसमें उसी के गुण की अधिकता रहेगी। जिस मनुष्य के शरीर में वायवीय अंश की अधिकता है उसमें रूक्षता अवश्य रहेगी और जिस द्रव्य की बनावट में वायु की प्रधानता है, उसमें भी वही बात होगी, जैसे पिप्पली, नीम, मूँग आदि में वायु का प्राधान्य है।

ऋग्वेद की पूर्वोक्त ऋचा के 'त्रिधातु' शब्द पर ही हम अब तक प्रकाश डाल रहे हैं। यह कहा जा चुका है कि ये तीन धातु ही तीन दोष कहाते हैं। जब तक ये अपनी सीमा के भीतर रहकर शरीर के उपकारक हैं तब तक शरीर को धारण करने के कारण धातु कहाते हैं और जब

6. Western system has not yet been able to know all the definite elements and their properties, and hence it is incompetent to describe all the properties, and that is why it is unable to prescribe *Pathya* (suitable diet), *Anupāna*, etc., according to the disease or *dosha*. It is still incomplete with regard to diagnosis.

7. The means and instruments by which the western system begins to experiment are absolutely incomplete, and hence in a short time—as new and new experiences are gained—it has to proclaim its former conclusion as false; and so long as this ever-changing method will continue, western system will remain useless. So long as Science does not establish stability and unchangeability of its conclusions, its dependent allopathy, the so-called scientific system, will remain uncertain, doubtful and changing, and as such it has no right to thus put lives of men in danger by prescribing a doubtful and incomplete method of treatment.

8. Thermometre and other similar instruments of the western system labour under this obvious disadvantage that they, being mere mechanical contrivances, can never take into account the subtle and minute variations in individual cases. For instance, in the case of those, whose normal temperature is either much above or below the accepted normal of 98·6°, thermometre can give no true indication of any slight fever. Therefore those who depend on it are generally deceived. And consequently the

उच्छृङ्खल होकर शरीर को दूषित करने लगते हैं तब दोष कहाते हैं। वायसराय और गवर्नर जनरल व्यक्ति एक ही है, परन्तु काम के भेद से नाम का भेद होता है। महर्षि चरक ने लिखा है—

"दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः, ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिभूतास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति ।" (चरक, विमा० अ० १)

ओषधियों के इन सब रस, विपाक, वीर्य, गुण आदिकों का प्रभाव रोगी के शरीर में जाकर उन्हीं तीन गुणों (वात, पित्त, कफों) पर पड़ता है। जिनके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। पहले रस को ही लीजिये—संसार में छः ही रस हैं—मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, चरपरा और कसैला। इनके संयोग से चाहे जो कुछ बने, पर मूल रस ये ही हैं।

इनमें से तीन तीन रस किसी एक दोष को बढ़ाते हैं और दूसरे उसे शान्त करते हैं। चरक में लिखा है—

"तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति । तद्यथा कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति । कटुकाम्ललवणाःपित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति । मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति । रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा ते तानभिवर्धयन्ति । विपरीतगुणास्तु विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्त्यभ्यस्यमाना इति ।" (च० विमा० अ० १)

अर्थात् चरपरा, कड़वा और कसैला रस वायु पैदा करता है। मीठा, खट्टा और नमकीन रस वायु का शमन करता है। चरपरा, खट्टा तथा नमकीन पित्त को बढ़ाता

है और मीठा, कड़वा, कसैला उसे शान्त करता है। मीठा, खट्टा और नमकीन कफ को बढ़ाता है एवं चरपरा, कड़वा और कसैला कफ का शमन करता है। इस प्रकार इन छहो रसों का प्रभाव एक दोष को घटाने तथा दूसरे को बढ़ाने का काम करता है। जिस प्रकार बाहरी द्रव्यों के रसों का प्रभाव है उसी तरह खाये हुए द्रव्यों के परिणाम (विपाक) में जो रस उत्पन्न होता है उसका भी असर होता है। इसी ढङ्ग से पञ्चमहाभूतों के गुणों पर भी दृष्टि डाल जाइये। ऐसी तो कोई वस्तु संसार में मिल नहीं सकती जो इनसे बाहर हो। इनके गुण हैं—गुरुत्व, स्नेह, तीक्ष्णता, लघुता और रूक्षता। वात, पित्त, कफ के गुणों का उल्लेख हम कर आये हैं। उनसे इनका मिलान कर देखिये। गुरुत्व और स्नेह जो पृथिवी और जल के गुण हैं वे कफ के गुणों में अन्तर्भूत होते हैं, तीक्ष्णता पित्त में और शेष दो वायु में अन्तर्भूत होते हैं।

इन गुणों पर विचार करने से आपको उनके दुर्गुणों का भी पता लग जायगा और चिकित्सा के समय रोगी को आप उनके बुरे प्रभाव से बचा सकेंगे। मधुर रस जहाँ वायु को शान्त करता है वहाँ कफ को बढ़ाता है। कड़वे से पित्त शान्त होता है तो वायु बढ़ती है और बढ़ी हुई वायु वीर्य को सुखाती है इत्यादि।

आयुर्वेद में और भी पाँच परीक्षायें हैं। इनका नाम है—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति। निदान शब्द का अर्थ है कारण। जिन मिथ्या आहार-विहारों से रोग उत्पन्न होता है वे ही उसके कारण समझे जाते हैं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि किस प्रकार के भोजन, पान

ओर खड़े खड़े मुँह देखते रहते हैं। उनके विचार की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। केवल प्रभाव से ही काम हो जाता है। काकजङ्घा की जड़ सिर में बाँध देने से नींद आती है। बड़ी चेतकी के पत्ते हाथ में मल देने से तुरन्त पाख़ाना हो जाता है। उसका फल जब तक हाथ में दवा रहेगा तब तक पाख़ाना आता रहेगा। इसके पेड़ के नीचे आकर खड़े होनेवाले पशु, पक्षियों को तुरन्त शौच होने लगता है। एक बूटी है जिसके पानी में घण्टे दो घण्टे हाथ धोते रहने से सोज़ाक दूर होता है। एक अञ्जन भी ऐसा ही है, जिसके आँखों में लगाने से यही रोग दूर होता है। कुछ दवायें ऐसी हैं जिन्हें मिलाकर एक बत्ती बनाई जाती है। उसे जलाकर उपदंश (आतशक) के रोगी के सामने रख दिया जाता है। वह केवल उसे देखता रहे। रोग एक ही रात में ठीक हो जाता है। यह सब कुछ प्रभाव की बात है। इसके आगे रस और गुण सब धरे ही रहते हैं। आयुर्वेद में इसके ऊपर बहुत कुछ विचार किया है। कोई पुरुष अपने जन्म भर में इसका अन्त नहीं पा सकता। क्योंकि द्रव्य अनन्त हैं और एक एक द्रव्य में प्रभाव भी अनेक हैं। उन सबका जानना योगियों और ईश्वर का ही काम है।

यह तो हुई 'गँवार वैद्य' की कथा। अब ज़रा कुनैनबाज़ों के क़ाफ़िले का भी मुलाहिज़ा कीजिये। साइन्स के अनुसार मलेरिया के कीड़ों पर होनेवाले कुनैन के प्रभाव और कीड़ों के हत्याकुण्ड (tube) का ज़िक्र हम कर चुके हैं। अब यह देखना है कि रोग और रोगी के बल के अनुसार दवा की व्यवस्था यह साइन्टिफ़िक चिकित्सा कैसे करती है। रोग का बल देखने का उनके यहाँ एक ही मार्ग है,

जिसे थर्मामेटर कहते हैं। बुख़ार का वज़न तोलने के लिये साइन्स ने यह 'धरमकाँटा' तैयार किया है। जैसे नदी में आनेवाले अहले (बढ़िया) के पानी को नापने के लिये नम्बर लगे हुए बाँस गाड़े जाते हैं इसी तरह बुख़ार की गहराई नापने के लिये रोगी के मुँह में यह 'धर्मध्वजा' खड़ी की जाती है। इसी के नम्बरों पर बुख़ार का फ़ैसला होता है। अब ज़रा इस नम्बरपरीक्षा की परीक्षा तो कीजिये। यह बात सभी जानते हैं और ऐलोपैथ लोग भी इसे मानते हैं कि संसार के सभी पुरुषों की तन्दुरुस्ती एक सी नहीं है। तन्दुरुस्ती के अनुसार किसी के शरीर में गर्मी कम रहती है किसी के अधिक। यदि तन्दुरुस्त आदमियों के थर्मामेटर लगाके देखा जाय तो किसी को छानवे डिगरी की गरमी निकलेगी किसी को सवाछानवे साढ़े छानवे या सत्तानवे। कुछ लोगों को इससे आगे भी बढ़ी हुई मिलेगी। थर्मामेटर में साढ़े अट्ठानवे तक नार्मल समझा जाता है। मतलब यह कि यहाँ तक स्वाभाविक गर्मी लोगों के शरीर में हो सकती है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हें अण्डे बराण्डी आदि के अधिक खाने पीने से ९९ डिगरी तक गर्मी रहा करती है। अब कल्पना कीजिये कि चार शीतज्वर के रोगी किसी ऐलोपैथ डॉक्टर के पास पहुँचे जिनके शरीर की स्वाभाविक गमी भिन्न भिन्न है। डॉक्टर साहब ने थर्मामेटर लगाके देखा तो सबको १०० डिगरी बुख़ार निकला और उन्होंने कुनैन की व्यवस्था सबको कर दी। अब हम पूछते हैं कि क्या डॉक्टर साहब को इन रोगियों में से किसी के भी असली ज्वर का पता लगा? जिसके शरीर की असली गर्मी छानबे रहा करती है उसे

तो १०० डिगरी में चार डिगरी बुख़ार हुआ और जिसकी स्वाभाविक गर्मी ९९ रहती है उसे एक ही डिगरी ज्वर हुआ। क्या इन दोनों को बराबर दवा देनी चाहिये ?

प्रथम तो अच्छी दशा में कोई डॉक्टर साहब को बुलाकर यह कहता नहीं कि अभी मेरी गर्मी नाप जाइये फिर जब बीमार पड़ूँ तो उसका हिसाब लगाकर असली बुख़ार का पता लगा लेना, दूसरे स्वास्थ्य के अनुसार शरीर की गर्मी घटती बढ़ती रहती है। अधिक समय बीमार रहने से शरीर की शक्ति के साथ गर्मी भी घटती ही है। फिर साइन्टिफ़िक चिकित्सा में बुख़ार का असली रूप जानने का कौन सा मार्ग है ? क्या संसार में ऐसा कोई एक भी ऐलोपैथ है जो थर्मामेटर के द्वारा यह बता सके कि इस रोगी को इतनी डिगरी ज्वर है और इतनी इसके शरीर की असली गर्मी है ? क्या किसी भी डॉक्टर को ज्वर की असली मात्रा का ज्ञान होता है ? यदि नहीं तो साइन्स की बख़्शी हुई यह 'धरमध्वजा' (थर्मामेटर) किस काम की ? जब आपको यही तमीज़ नहीं है कि बुख़ार है कितना, तो आप चिकित्सा क्या ख़ाक करेंगे ? यह और बात है कि आँख मीचकर आप 'अनाड़ी की सी बन्दूक़' दागे जाइये और धड़ाधड़ कुनैन की गोलियाँ लोगों के गले में उतारते जाइये। 'रोगी मरे या जिये आपकी बला से'। यह हो सकता है कि साइन्स का नाम ले ले कर आप झूठा ढोल पीटते जायें और राज्य की अनुकूलता के कारण आप पर आँच न आये, पर बुख़ार का असली ज्ञान आपको ख़ाक नहीं है। रोग के बल का ज्ञान हुए बिना दवा दे देना अन्ध-चिकित्सा नहीं, तो और क्या है ?

अब इस बात के दूसरे पक्ष पर विचार कीजिये। कल्पना कीजिये कि एक आदमी की असली गर्मी छानवे है। अब उसे तीसरे पहर के समय आँखों में कुछ धीमी धीमी जलन मालूम होने लगी। वह भी ज़रा देर के लिये। या ऐसी ही कोई और नाममात्र की तकलीफ़ किसी वक्त होने लगी। और कोई बात नहीं। खाना पीना बिलकुल ठीक। पाखाने की कोई शिकायत नहीं। ताक़त में कोई कमी नहीं, बल्कि कुछ इन्द्रियों की शक्ति में तीव्रता आ गई है। मुँह का स्वाद बिल्कुल ठीक है। मतलब यह कि रोगी के मन में सन्देह पैदा करनेवाला कोई गहरा कारण नहीं है। न बाहरी लक्षणों में कोई बिगाड़ है। यदि डॉक्टर साहब से सलाह ली गई तो उन्होंने वही अपनी 'धरमध्वजा' निकाली। उससे पता लगा कि टेम्परेचर ९७ डिगरी है। डॉक्टर साहब ने मुँह बनाकर कह दिया कि—(Nonsense. It is below normal, you are all right) अर्थात् यह कुछ नहीं। बुख़ार तो नार्मल से भी कम है। तुम बिल्कुल अच्छे हो। मनुष्य के शरीर की असली गर्मी जानने का तो साइन्स में कोई साधन है ही नहीं। नाड़ी का ज्ञान डॉक्टर साहब को उतना ही है जितनी मिसरी में खटास। हाँ, घड़ी देखकर नाड़ी की बीट गिन लिया करते हैं। और चूँकि हिन्दुस्तानियों में नाड़ी पर श्रद्धा विशेष है, जब तक चिकित्सक नाड़ी न देखे तब तक रोगी को सन्तोष नहीं होता, इसलिये दूकानदारी के ख़याल से आप रोगी की नाड़ी पकड़कर भी बैठ जाया करते हैं, पर नाड़ीज्ञान के नाम वहाँ सिर्फ़ अल्लामियाँ का नाम है। अब रहा थर्मामेटर उसने साढ़े अट्ठानबे तक अभयदान दे रक्खा है। फिर जिसकी असली गर्मी छानबे है

बन बैठा है, या बाबाजी की 'सिद्धविभूति' और 'ख़ान्दानी नुसख़ों' के नाम पर वैद्यों का 'गद्दीधारी' नहीं बना है, तो वह सबसे पहले रोगी की प्रकृतिपरीक्षा करके उसके शरीर की बनावट में यह जानने की चेष्टा करेगा कि इसकी प्रकृति में किस दोष की अधिकता है, कौन मध्यम श्रेणी का है और कौन सबसे थोड़ा है। फिर जिस देश में यह बीमार हुआ है वहाँ किस दोष की प्रधानता है और जिस ऋतु में यह रोग उत्पन्न हुआ है वह किस दोष के अनुरूप थी एवं जिस समय इसका ज्वर बढ़ता है वह किस दोष का समय होता है। (दिन के तीन हिस्से कीजिये और कफ, पित्त, वात में उन्हें बाँट दीजिये, कफप्रधान रोग पहले हिस्से में बढ़ेंगे, पित्तप्रधान दोपहर में और वातप्रधान तीसरे पहर से शाम तक बढ़ेंगे। रात्रि में इसके विपरीत हिसाब है। रात्रि के पहले भाग में वायु, मध्य भाग में पित्त और अन्तिम भाग में कफ का समय होता है।) फिर वह यह देखेगा कि इसके शरीर में कुछ सार भी है या नहीं? त्वक्सार, रक्तसार, मांससार में से यह कुछ है? या असार ही है? (चरक ने आठ प्रकार के सार बताये हैं) जितना सार है उतनी ही तीव्र औषध का सहन कर सकेगा।

यदि वातप्रकृति है तो थोड़ी ही वातकारक औषध का उस पर काफ़ी प्रभाव पड़ जायगा—और कफप्रकृति को उससे अधिक दवा देनी पड़ेगी। जो रोगी वातप्रकृति है, जिस देश में रहता है वह भी वातप्रधान है, ऋतु भी वायु की है और रोग भी वायु के समय ही प्रबल होता है तो साधारण वातघ्न औषध की साधारण मात्रा से काम न चलेगा। इसके बाद वह (वही 'गँवार वैद्य') रोग की

प्रकृति की ओर झुकेगा और जगज्जननी प्रकृति के तीन प्रधान गुणों (वात, पित्त, कफों) के अनुसार उसकी मीमांसा आरम्भ करेगा। वह सोचेगा कि सिर का दर्द गर्मी से भी हो सकता है और ठण्ड से भी। इस रोगी को क्यों हुआ? इसके लिये वह सिरदर्द के अन्य साथियों को टटोलेगा। जब वह देखेगा कि शरीर का काँपना, गले और ओंठों का सूखना और नींद का न आना भी इसके साथी हैं। और वायु के समय ज्वर के साथ सिरदर्द बढ़ता है, तो वह उन लक्षणों की जड़ में छिपी हुई वायु की प्रधानता का अनुमान करेगा और जब देखेगा कि देश काल और प्रकृति भी वातप्रधान ही हैं तो वह निश्चय कर लेगा कि रोग में वायु की प्रधानता है। अब वह रोग के दूसरे लक्षणों की ओर दृष्टि दौड़ायेगा। वहाँ उसे आँखों की जलन, छाती की जलन देखकर बिगड़े हुए पित्त का पता लगेगा। इसे वह मध्यम श्रेणी में बिठायेगा और खुश्की होने पर भी पानी पीने की इच्छा न होने एवं मुँह के चेप से सबसे थोड़े विकृत कफ का अन्दाज़ा करेगा। मुँह के कसैलेपन से वायु के रस का पता पायेगा और जाड़ा लगने से वायु और कफ दोनों की शामिल शरारत का अनुसन्धान करेगा। इस प्रकार इस समग्र मीमांसा से वायु की प्रधानता, पित्त की सचिवता और कफ की अव-रता निश्चित होगी। नाड़ीपरीक्षा के द्वारा इन बातों का समर्थन होने पर यह सब निश्चित तत्त्व समझा जायगा। इस निश्चय के अनन्तर, कुछ और अत्यावश्यक परीक्षायें कर लेने पर, वह औषध ढूँढ़ने के लिये अपनी 'गँवार बुद्धि' दौड़ायेगा। और ऐसा योग (नुसखा) निर्द्धारित

करेगा जिसमें वातनाशक ओषधियों की प्रधानता हो, पित्त ठीक करनेवाली भी कुछ दवा हो और कफ की भी थोड़ी सी रियायत हो और यह सब रोगी की प्रकृति के अनुकूल हो। आयुर्वेद की पुस्तकों में तो एक एक रोग पर सैकड़ों नुसखे लिखे हैं। फिर एक ही रोग के लिये काढ़ा भी है, अर्क़ भी है, शरबत भी है, प्राश और अवलेह (माजून) भी है, गोली और आसव भी है, घी और तैल भी है, रस, उपरस, धातु, उपधातु, रत्न, उपरत्न, मणि आदि की भस्मों का विधान भी है। इसी घने और दुर्गम जङ्गल में से उसे रोगी और रोग की प्रकृति के अनुसार औषध का चुनाव करना है। आयुर्वेद की आज्ञा है—

'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्—
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।'

इस चुनाव में वह रोगी की आहारशक्तिपरीक्षा और सत्त्वपरीक्षा से सहायता लेगा। रोगी का सत्त्व (मन) यदि अत्यन्त कोमल है, दयालु स्वभाव है, दूसरे का थोड़ा सा दुःख देखकर ही घबरा उठता है, अथवा रोगी बच्चा है या सुकुमारी नारी है तो वह ऐसी औषध की तलाश करेगा जिसका रस उद्वेजक (व्याकुलता पैदा करनेवाला) न हो। वायु को शान्त करने में मीठा, खट्टा और नमकीन तीनों रस काम करते हैं, परन्तु बच्चों के लिये एवं उन पुरुषों के लिये जिनके मन में सत्त्वगुण की प्रधानता है वह 'गँवार वैद्य' मीठे रस को चुनेगा और ऐसी औषध तजवीज़ करेगा जिसका रस मधुर हो। एवं जवान स्त्रियों और रजोगुणी पुरुषों के लिये खट्टे रस को उपयुक्त समझेगा परन्तु अधिक खटाई उद्वेजक होती है इसलिये उसमें किसी

वातनाशक नमकीन औषध का मिला देना भी उचित समझेगा। यदि रोगी तीन सेर अन्न खानेवाला बुद्धिशून्य किन्तु बलिष्ठ किसान या पठान है तो उसे खूब कड़वा क्वाथ आध सेर, तीन पाव की मात्रा में पिलायेगा। यदि छटाँक आध पाव, मृदु, मधुर, स्निग्ध भोजन करनेवाली अत्यन्त सुकुमार राजकन्या है तो किसी रत्न या उपरत्न का चावल आधा चावल भर भस्म किसी मीठे और सुगन्धित शरवत में मिलाके देगा जो रोग के ऊपर भी पूर्ण प्रभाव रखती हो। यदि कोई गर्भिणी है तो और भी कई बातों का विचार करेगा। यदि रोगी की प्रकृति में कफ की प्रधानता है तो उसके लिये आसव अरिष्ट की व्यवस्था देगा और यदि उसमें वायु की अधिकता है तो घी, तेल आदि बतायेगा। कोमल प्रकृति पुरुष को बजाय काढ़े के अर्क देना पसन्द करेगा। और इन सब बातों को कर चुकने के बाद रोगी के पथ्य की व्यवस्था करेगा। जो अन्न, जिस प्रकार का जल, जो जो दूध और शाक फल आदि दोष, दूष्य, देश काल, प्रकृति आदि की परीक्षाओं के अनुसार रोगी को हितकर होंगे उनका खाना बतायेगा, अन्यों का नहीं। अन्त्य में रोगी के रहन सहन, मकान आदि की व्यवस्था करेगा। चरक ने ऐसे उपाय भी बताये हैं जिनसे आवश्यकता पड़ने पर ऋतुओं के प्रभाव को रोगी के लिये बदला जा सके।

यहाँ तक रस, गुण, वीर्य, विपाक की बात हुई। इनके अतिरिक्त एक वस्तु और भी है, जिसे प्रभाव कहते हैं। वह इन सबसे बढ़कर है और सबसे विलक्षण है। सहदेवी की जटा सिर में बाँधने से ज्वर दूर करती है। यह उसका प्रभाव है। यहाँ सहदेवी के रस, गुण, वीर्य, विपाक एक

western method of examining the patient and disease is quite incomplete.

9. Quinine is one of the most frequently prescribed medicines for fever in allopathy, specially for the poorer classes. Now to obtain beneficial results and to prevent any baneful after-effects, it is necessary to take at least a seer of milk for every ten grains of quinine. And sometimes doses amounting from 30 to 60 grains are administered. In a country like India, where the shortage of milk-supply is so great that on an average a person cannot get even an ounce of milk per day, the poverty-stricken patients who are in great majority can never get a sufficient quantity of milk, and generally none at all, to counteract the poisonous effects of quinine. So long as the Government does not make necessary arrangements for the supply of a sufficient quantity of milk, so much forced consumption of quinine through allopathy is simply disastrous.

10. On the other hand, there are certain simple and pure Ayurvedic medicines which are absolutely free from any baneful after-effects. They do not need milk or similar expensive substances, but are quite as efficacious to cure malaria as quinine. If Government provides facilities for their experiment and examination, we are prepared to prove their efficacy.

11. Doctors, for every single thing, have to look to Europe. For them, from knife, fork, forcep and needle to all other surgical instruments and medicines --so much so that even cotton and cloth for bandage

उसको यदि सत्तानवे हुआ, तो शरीर के भीतर छिपे हुए भयानक राक्षस का पता कौन देगा ? बाहरी लक्षण भी तो कुछ नहीं हैं । हाँ, जब बीमारी घर कर लेगी और खून में इस दर्जे तक कीड़े बढ़ जायँगे कि ज़रा सी खून की बूँद में भी स्पष्ट दीखने लगेंगे, या खाँसी बढ़ जायगी और कफ में हर बार कीड़े निकलने लगेंगे तब डॉक्टर साहब बड़े घमण्ड से राजयक्ष्मा की घोषणा करेंगे । कभी कीड़ों के जानने के साधन (Mycroscope) की प्रशंसा के पुल बाँधेंगे और कभी सइन्स और साइन्टिफ़िक चिकित्सा के नाम से शेख़ी बघारेंगे । परन्तु दवा के नाम सिफ़र ! वहाँ ऐलोपैथी चिकित्सा 'नो मेडिसिन (NoMedicine)की घोषणा करेगी।

ऐलोपैथिक साइन्स में राजयक्ष्मा के कीड़े अजर अमर हैं । वे कभी मरते ही नहीं । अल्ला मियाँ के छोटे भाई या शैतान के चचा हैं । कभी कभी उनके ऊपर एक आवरण चढ़ जाता है, जिसके भीतर २०—२० साल बन्द रहने पर भी वे मरते नहीं । आवरण फटने पर ज़िन्दा ही निकलते हैं ।

सबसे बड़ा मज़ा तो यह है कि यदि रोगी के कफ या रुधिर में किसी प्रकार के कीड़े न निकलें तो कोई ऐलोपैथ उसे बीमारी न होने का निश्चय नहीं दिला सकता । हाँ, कीड़े निकलने पर :you must die का सर्टिफ़िकेट देकर यमपुर का रास्ता दिखा सकता है । कल्पना कीजिये कि एक रोगी के थूक में कीड़े इतने कम हैं कि १०—५ दिन में कभी एक बार आ जाते हैं । जो थूक डॉक्टर साहब ने परीक्षा करके देखा उसमें इत्तफ़ाक़ से आये ही नहीं । तो अब यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर के भीतर थूक के किसी अंश में भी कीड़े नहीं हैं । हाँ, खूब बढ़ जाने पर

दीख सकते हैं। मतलब यह कि जब तक रोगी चिकित्सा के योग्य रहता है और रोग बद्धमूल नहीं होने पाता तब तक साइन्टिफ़िक चिकित्सा स्वयं भी अज्ञानान्धकार में डूबी रहती है और रोगी को भी धोखे में रखती है। उसकी साइन्स की आँखें तब खुलती हैं जब रोगी मृत्यु के मुख में पहुँच जाता है। जो रोगी ऐलोपैथी पर ही विश्वास करके आदि से अन्त तक इसी के अधीन रहे उसकी क्या गति हो? मृत्यु या कुछ और? इसी साइन्टिफ़िक चिकित्सा के भरोसे ऐलोपैथ साहबान इस क़दर इतराते हैं। इसी के बल पर आयुर्वेद को 'अनसाइन्टिफ़िक' और वैद्यों को 'यमराज के एजेन्ट' बताते हैं। अब हम पूछते हैं कि ईमानदारी के साथ अपने हृदय पर हाथ रखकर अच्छे से अच्छा ऐलोपैथ यह बताये कि यमराज का एजेन्ट कौन है? वह स्वयं या वैद्य लोग?

यह सब पश्चिमी साइन्स का दोष है। उसकी जड़ता का दोष है, उसके पार्थिवत्व का दोष है। अणुओं के आगे उसकी शक्ति का अन्त हो जाने का दोष है। उसके यहाँ आत्मा और मन के लिये कोई स्थान न मिलने का दोष है। मन के साथ शरीर का कोई सामञ्जस्य न कर पाने की उसकी अशक्ति का दोष है और सबसे बड़ा दोष है उसकी विचारशैली का। जड़ होने के कारण पश्चिमी साइन्स द्रव्य से गुण पर पहुँचती है, परन्तु भारतीय विचारशैली का आरम्भ शक्तियों और गुणों के आधार पर होता है। भारतीय साइन्स सूक्ष्म शक्तियों के आधार पर स्थूल जगत् का विभाग करती है और पश्चिमी साइन्स स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् की ओर जाने की चेष्टा करती है और अणुओं पर जाकर उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र जवाब दे

जाते हैं। इसके आगे वह कुछ नहीं जान पाती। वस्तुतः प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा इससे आगे है ही नहीं। इसके आगे यदि गति है तो शब्द-प्रमाण की। आप्तों और वेदों के वाक्यों की। आर्ष और योगज ज्ञान की। परन्तु पश्चिमी साइन्स में इन बातों का क्या ज़िक्र? गोरी मेम के गाउन में गङ्गाजल के छींटों का क्या काम?

इन बातों से यह स्पष्ट है कि बढ़े हुए ज्वर की इयत्ता और बल का पता थर्मामेटर से नहीं लग सकता और मीठे ज्वर---जो कि अत्यन्त घातक राजयक्ष्मा (Phthisis) का मूल है—का तो किसी प्रकार इससे ज्ञान नहीं हो सकता। अब इन दशाओं में डॉक्टर लोग इलाज कैसे करते होंगे, इसका अनुमान बुद्धिमान् पाठक स्वयं कर लें।

इसके अतिरिक्त बग़ल में पसीना आदि के कारण थर्मामेटर का पारा ठीक ठीक नहीं चढ़ता। जिन लोगों को मुँह से साँस लेने की आदत है उनके मुँह से भी ठीक ठीक पता नहीं चलता। यदि ठण्डे पानी से कुल्ला कर लिया जाय या बरफ़ की डली मुँह में रख ली जाय तो भी पारा नहीं चढ़ सकता। हाँ, दौड़कर आने पर, कसरत करने पर, आग सेंक लेने पर, धूप में बैठे रहने पर, या क्रोध आ जाने पर ज्वर न होने पर भी थर्मामेटर का पारा चढ़ जायगा। कुछ देर तक बग़ल में लहसन या प्याज़ की गाँठ दबाये रहने पर १०२—१०३ डिगरी तक पारा चढ़ जायगा। बङ्गाल में शरारती लड़के प्रायः इसी तरकीब से डॉक्टरों को चकमा देकर छुट्टी का सर्टिफ़िकेट लिखाया करते हैं। आख़िर जड़ साधन तो है ही। कोई चेतन तो है नहीं, जो समझ-बूझ के काम करे इसलिये बग़ल में या मुँह में लगाये

हुए थर्मामेटर से जो ज्वर (या गर्मी) का ज्ञान होता है वह ठीक नहीं माना जाता। साइन्स के अनुसार रोगी के शौचस्थान (गुदा) के अन्दर थर्मामेटर लगाना चाहिये। अब हम पूछते हैं कि ऐसे कितने डॉक्टर हैं जो प्रत्येक रोगी के शौचस्थान में थर्मामेटर लगाया करते हैं? और ऐसे कितने रोगी हैं जो इस प्रकार ज्वर की पैमाइश कराना पसन्द करते हैं? फिर यह सब कुछ होने पर भी तो न हलके ज्वर का ज्ञान होता है न बढ़े हुए ज्वर की इयत्ता की पहचान होती है। ज्वर में कौन सा दोष प्रबल है, इसकी तो कहीं गन्ध तक नहीं। यही वह साइन्टिफ़िक सामान है जिसके बल पर वैद्यों को 'गँवार' कहा जाता है।

रोगपरीक्षा के प्राच्य और पाश्चात्य ढङ्गों पर ध्यान देने से एक बात और भी प्रकट होगी। प्राच्य पद्धति परीक्षा के प्रकरण में मानसिक शक्तियों को अधिक उपयोगी समझती है और पाश्चात्य पद्धति बाहरी साधनों से अधिक काम लेती है। ऋषि लोग आँख मीचकर ध्यान लगाना सिखाते हैं और विलायती शिक्षा हर बात के लिये एक नया औज़ार पेश करती है। चरक आदि ने यह उद्योग किया है कि जहाँ तक हो मनुष्य को परतन्त्रता से बचाया जाय और सच्ची परीक्षा के योग्य भी बना दिया जाय। इसके लिये उन्होंने प्रकृति, मन और आत्मा को ही सर्वोत्तम साधन चुना। उनकी समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म परीक्षायें इन्हीं में जाकर समाप्त होती हैं। उधर पश्चिमी शिक्षा में प्रकृति का स्थान विकृति ने लिया। उसने हरएक काम के लिये अलग अलग यन्त्र निर्माण किये। परन्तु प्रकृति की अपेक्षा विकृति सदा स्थूल रहती है अतः विकृति

के द्वारा की हुई परीक्षा भी स्थूलता में ही समाप्त हो गई। सूक्ष्म तत्त्वों तक न पहुँच पाई। विकार आख़िर प्रकृति को पार कैसे करता? बच्चा अपनी माँ के जन्म का हाल कैसे बताता? विकृति में बाहरी सामान तो बहुत बढ़ गया। चकाचौंध पैदा करनेवाली बाहरी तड़क भड़क भी बहुत आ गई, परन्तु विचारों की सूक्ष्मता जाती रही। आलू खाने के लिये एक औज़ार (काँटा), रोटी काटने के लिये दूसरा औज़ार (छुरी), नमक उठाने के लिये तीसरा औज़ार (छोटा चम्मच) और चाय पीने के लिये चौथा औज़ार (बड़ा चम्मच) तो बन गया, परन्तु अण्डे, चाय या आलू खाने से मन की क्या दशा होती है, इनमें से कौन सा सात्त्विक है और कौन सा तामस, इस बात की मीमांसा न रही। थर्मामेटर बना, परन्तु गरमी दौड़ने से बढ़ी है या धूप में बैठने से? प्याज़ की गाँठ बग़ल में रखने से पारा चढ़ गया है या असली बुख़ार है? बुख़ार कितना है और रोगी की असली गरमी कितनी है? इत्यादिक प्रश्नों का उत्तर थर्मामेटर की नली में न समा सका। हाँ, बाहरी रूप रंग देखनेवालों को डिग्री, प्वाइंट के नम्बर, पारे की चमक दमक और काच का चकाचौंध पैदा हो गया।

जिन लोगों को भारतीय दृष्टि प्राप्त नहीं है, जिन्हें आध्यात्मिकता का कुछ ज्ञान नहीं है वे भारत की सूक्ष्मता को नहीं समझ सकते। विलायत से आया हुआ पादरी यदि किसी ब्राह्मण को सन्ध्या करते देखे तो क्या समझेगा? बाहरी सामान वहाँ क्या मिलेगा? थोड़े से पानी के सिवा और वहाँ क्या धरा है? वह तो यही समझेगा कि ऊँचे से ऊँचे हिन्दू की उपासना एक मज़ाक़ के सिवा और कुछ नहीं है। वह

यही कहेगा कि हिन्दू ईश्वरपूजा के नाम पर बार बार पानी पीता है और नाक पकड़कर बैठ जाता है। जिसे प्राणायाम की प्रक्रिया का पता नहीं, जो इडा और पिङ्गला की श्वास-प्रश्वास गति से परिचित नहीं, जिसे ध्यान के मार्ग का अनुभव नहीं, जिसे नाभि, हृदय और ब्रह्माण्ड में प्राण के संयम का ज्ञान नहीं वह उस ब्राह्मण की उपासना का मर्म क्या समझेगा? हाँ, विलायती संस्कारों के कारण बाहरी सामान के अभाव में उसे 'गँवार' भले ही कहे।

पूर्व और पश्चिम में यही तो भेद है। एक का लक्ष्य अन्दर की ओर है और दूसरे का बाहर की ओर। एक ब्राह्मण पूजन के लिये ध्यान का मार्ग निश्चित करता है और एक पादरी गिर्जे में जाने के लिये कपड़ों का फ़ैशन निश्चित करता है। एक के यहाँ आचारविचार का महत्त्व है और दूसरे के यहाँ वेषभूषा का।

एक बात और भी है। ऋषियों में जहाँ आत्मिक शक्ति की प्रबलता है और संसार का कल्याण चाहने के लिये हृदय में अपार दया है वहाँ पश्चिमी सभ्यता में आध्यात्मिक भावों का एकदम अभाव है और दूकानदारी तथा स्वार्थ-परायणता की प्रबलता है। एक सुई बनाने के बाद ही पश्चिम उसे पेटेंट कराने की तरकीब सोचता है, जिससे सब लोग परतन्त्र हो जायँ और सारा रुपया सीधा उसके घर में चला जाय। आज भारतीय डॉक्टरों को तुच्छ से तुच्छ वस्तुएँ सात समुद्र पार से तो मँगाकर दी जाती हैं, परन्तु उनका बनाना किसी को नहीं सिखाया जाता।

यह तो हुई डॉक्टर साहब की रोगपरीक्षा। रोगि-परीक्षा का यहाँ कुछ ज़िक्र ही नहीं है। प्रकृति, सात्म्य,

सार, सत्त्व आदि जिन बातों के द्वारा चरक ने रोगिपरीक्षा का प्रकरण उठाया है उनका अभी जड़ साइन्स को स्वप्न भी नहीं है, न हो ही सकता है। परमाणुओं पर पहुँचकर अक्षम हो जानेवाली क्षुद्र साइन्स उन बातों का पता कभी न पा सकेगी। हाँ, प्राणियों का संहार करनेवाले नित नये साधन अवश्य निकाल सकेगी परन्तु संसार का कल्याण करने के लिये ऋषियों का सा उदार हृदय कभी न पा सकेगी।

पूर्व और पश्चिम का यह भेद परम्परागत है। पूर्व ने ईश्वर को देखने के लिये समाधि का मार्ग निकाला है और पश्चिम ने कीड़ों को देखने के लिये खुर्दवीन ईजाद किया है। पूर्व में वह आदमी 'नरपशु' कहाता है जिसकी मानसिक शक्तियाँ विकसित तथा उपयोगी न हों एवं जिसे आत्मिक बल प्राप्त न हो और पश्चिम में वह आदमी 'गँवार वैद्य' कहाता है जिसके पास वाहरी जड़ साधनों का ढेर न हो। पूर्व की आस्था मानसिक शक्तियों के विकास पर और सर्वत्र सुलभ ईश्वरदत्त प्राकृतिक साधनों के आधार पर अवलम्बित है परन्तु पश्चिम का सब कुछ मनुष्य-रचित कृत्रिम साधनों और व्यापारिक सिद्धान्तों पर निर्भर है। पूर्व अपने मूल सिद्धान्तों की खोज करने के लिये प्रकृति के मूलतत्त्वों में गङ्गातट पर समाधि लगाता है और पश्चिम अपने सिद्धान्त स्थिर करने के लिये लेवोरेटरी (Laboratory) में ट्यूबें (Tubes) टटोलता है। पूर्व किसी रोगी का ज्वर और उसकी विशेषता जानने के लिये रोगी की गर्भजात प्रकृति की परख करता है, उसके शरीर की रचना में लगे हुए पञ्चतत्त्वों की विशेषता का निर्धारण करता है, उसकी मानसिक दशा के साथ उसकी शारीरिक

दशा का मिलान करके देखता है। उसकी आयु के साथ ज्वर के दोषों की विवेचना करता है। जिस ऋतु में ज्वर उत्पन्न हुआ है उसकी मीमांसा करता है। दिन या रात्रि के जिस अंश में रोग बढ़ता या अपना स्वरूप बदलता है उसके साथ दोषों का सामञ्जस्य मिलाकर देखता है, जिस वस्तु के खाने पीने से ज्वर घटता या बढ़ता है उसका विचार करता है, जिस प्रकार के आहार विहार के बाद ज्वर उत्पन्न हुआ है उसकी जाँच करता है। ज्वर ने अपने जो जो लक्षण प्रकट किये हैं उनका विश्लेषण करके मूल दोषों के साथ उनका मिलान करके दोषों के बलाऽबल का निर्धारण करता है। रोगी जिस देश में है उसका ज्वर पर क्या प्रभाव है इसका निर्णय करता है। रोगी की रुचि, उसके मुँह का स्वाद, उसकी आँख, त्वचा, पाख़ाना, पेशाब, भूख, नींद आदि की विशेषता पर ध्यान देता है और इन सब बातों के साथ औषध के हरएक अङ्ग का सामञ्जस्य मिलाकर औषध तथा पथ्य की व्यवस्था करता है और पश्चिम रोगी के ज्वर की जाँच करने के लिये सिर्फ़ थर्मामेटर पर लगे नम्बरों की गिनती करता है। एक रोग की परीक्षा के लिये रोगी की शारीरिक और मानसिक प्रकृति की तह में घुसता है, रोगी के हृदय की गति (नाड़ीपरीक्षा) से उसके रोग की विशेषता की जाँच करता है और दूसरा भ्रम-प्रमाद से पूर्ण मनुष्य के बनाये कृत्रिम साधनों पर भरोसा रखता है। एक रोगी का दुःख जानने के लिये उसका मुख और मन देखता है, परन्तु दूसरा किसी शीशे में पड़े रोगी के प्रतिबिम्ब की मीमांसा करता है। एक की परीक्षायें अनेक हैं परन्तु बाहरी और कृत्रिम साधनों की आवश्यकता नहीं, परन्तु दूसरे की

एक परीक्षा के लिये भी अनेक कृत्रिम साधन आवश्यक हैं। पूर्व और पश्चिम में इतना ही तो अन्तर है। एक के साधन प्राकृतिक हैं, दूसरे के कृत्रिम। इनका फल भी स्पष्ट है। वैद्य बिल्कुल अन्धा होने पर भी रोगी के ज्वर की विशेषतायें समझ सकता है परन्तु डॉक्टर मन्ददृष्टि होने पर भी थर्मामेटर की रेखायें नहीं देख सकता। वैद्य की ज्वरपरीक्षा का साधन विकृत या नष्ट हो जाने पर उसे हाथ भर पर ही दूसरा साधन मिल जाता है। वह एक हाथ की उँगलियाँ खराब होने पर दूसरे हाथ से काम ले सकता है परन्तु डॉक्टर का थर्मामेटर खराब होने पर अमरीका की हिक्स कम्पनी के इधर कोई शरण नहीं। उसे हिन्दुस्तान भर में अपनी ज्वरपरीक्षा का साधन नहीं मिल सकता। पूर्व का उद्देश्य है कि गम्भीरतर मार्ग में भी यथाशक्य साधनों की कमी की जाय और अन्त्य में समस्त संसार को परमस्वतन्त्रता (मोक्ष) प्राप्त कराई जाय और पश्चिम का उद्देश्य है कि समस्त संसार को बाह्य साधनों का यथाशक्य आदी करके अपने चंगुल में फँसाया जाय और व्यापारिमण्डल का मुखापेक्षी बनाया जाय। पूर्व का आरम्भ कटुता से होता है और अन्त्य परम माधुरी में होता है, परन्तु पश्चिम का आरम्भ मीठी मीठी बातों से और अन्त्य पैशाचिक काण्डों में होता है। पूर्व की भाषा (संस्कृत) के भौम, भूमिज, भूमिनन्दन आदि शब्द मङ्गल (ग्रह) के साथ पृथिवी का सम्बन्ध बताते और उसके इतिहास की सूचना देते हैं, परन्तु पश्चिमी जगत् मङ्गल पर फेंकने के लिये बमगोला तयार करता है। पूर्व और पश्चिम में यही तो भेद है।

आयुर्वेद के वैदिक और ऋषिकृत ग्रन्थों का कोई प्रकरण ऐसा नहीं है जिसमें आत्मा, परमात्मा, धर्म, अधर्म, पर-लोक आदि की कुछ न कुछ चर्चा न हो, परन्तु ऐलोपैथी की तमाम विज्ञानशालायें देख जाइये और समस्त पुस्तकालय पढ़ जाइये, इन बातों का कहीं निशान तक न मिलेगा। इस-का फल भी प्रत्यक्ष है। आज धर्मज्ञानहीन, आत्मज्ञानशून्य, स्वार्थपरायण जड़ साइन्स ने मनुष्यजाति को हानि पहुँचाने-वाले जितने साधन ईजाद किये हैं उतने हित पहुँचानेवाले नहीं हैं। पश्चिमी साइन्स की वर्तमान प्रगति का रुख देखकर तो सहज ही यह अनुमान होता है कि एक न एक दिन यह साइन्स अपनी ही लगाई आग में स्वयं भी शीघ्र भस्म होगी और साथ ही और बहुतों को भी ले डूबेगी।

बाहरी साधनों का अधिक आदी हो जाने से मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ कुण्ठित होने लगती हैं। मानसिक और आत्मिक शक्तियों के विकास के लिये कृत्रिम साधनों की कमी आवश्यक है। यही कारण है कि जङ्गलों के निवास को पसन्द करनेवाले ऋषि लोग अधिक परिग्रह को नापसन्द करते हैं।

जो लोग घड़ी देखने के आदी हैं वे घड़ी बिना देखे ठीक समय नहीं बता सकते। परन्तु हमने एक ऐसा आदमी देखा है जिसने जीवन भर में कभी घड़ी नहीं रक्खी, किन्तु समय की बड़ी सुन्दर जाँच करता था। यह पञ्जाब के जालन्धर नगर में दूध, दही की दूकान करता था। हमने स्वयं इसकी परीक्षा की थी। हमारे पूछने पर उसने ४ बजके १७ मिनिट बताये थे। अपनी घड़ी देखकर हमने ४ बजकर १५ मिनिट कहे। उसने हँसकर कहा कि २ मिनिट का फ़र्क़ तो घड़ियों में भी हुआ करता है। परन्तु पाठकों को यह जानकर आश्चर्य हो

—have to be indented from Europe. These Doctors are incapable of preparing any medicine or instruments in their own country. They have to use the things just as they are received from foreign countries. If some of them are in disorder, they may throw them but cannot repair them. This clearly shows that these Allopathic Doctors are simply agents for the western druggists, and this fact is most detrimental to the economic development of India. These agents act as a calf to milk away the wealth of this cow-like country. A few drops of milk come to the share of these calves and the rest goes to the milk-man, the European merchants. If the Government removes its aid and if the import of western medicines and instruments is stopped, the whole doctor class of India will be of no other use than to serve in some ordinary offices as clerks.

12. So long as the *Prakriti*, *Sātmya* strength, etc., of the patient are not properly examined and the proper degree of the disease and *dosha*, time and place, etc, are not taken into account and until all the parts of the medicine that is to be administered to the patient are duly examined and unless and until they agree together, it is nothing but a blind treatment to give any medicine to a patient. And that is why a good Vaidya or Hakim never uses a patent medicine. The inventor of a patent medicine would not disclose its ingredients and their proportions, lest each and everybody should get it prepared and the very object of the inventor *i.e.* making money, should

कि वस्तुतः हमारी घड़ी दो मिनिट सुस्त थी। सदा घड़ी देखनेवालों की मानसिक शक्ति का इतना विकास होना असंभव है। पूर्व और पश्चिम में यही तो अन्तर है।

रोगपरीक्षा और रोगिपरीक्षा के अनन्तर अब ज़रा डॉक्टर साहब की औषधपरीक्षा का भी स्वाद ले देखिये। कुनैन को डॉक्टर लोग ब्रह्मास्त्र समझते हैं। उनकी समझ में ऐसी दिव्य और अमोघ औषध संसार में किसी के पास नहीं है. अतः हम औषधपरीक्षा में उसी का दृष्टान्त देंगे। हरएक वस्तु में रस, विपाक, गुण, वीर्य और प्रभाव होते हैं, यह बात हम अभी कह आये हैं। प्रत्येक द्रव्य में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण भी अवश्य रहा करते हैं। कुनैन भी इनसे ख़ाली नहीं है। उसका कड़वा रस तो जीभ पर रखते ही मालूम हो जाता है और सफ़ेद रंग देखते ही समझ में आ जाता है। अब रहे वीर्य, विपाक आदि। इन पर विचार करने की प्रणाली ही साइन्स में नहीं है। वहाँ तो सिर्फ़ कीड़ों को मार मार कर देखने की नली (tube) है। अतः इन प्रश्नों को हम दूसरे ढङ्ग से पूछेंगे।

१—यह तो स्पष्ट है कि कुनैन से मलेरिया के कीड़े मरते हैं। परन्तु उनके मारने में कुनैन का रूप काम करता है या रस? या उसका कोई अन्य गुण कीड़ों का संहार करता है?

२—क्या साइन्स में कोई ऐसा यन्त्र बना है जिससे उन सब दुर्गुणों का पता लग सके जो कुनैन मनुष्य के शरीर में जाकर पैदा करती है?

३—जिस रोगी के शरीर में मलेरिया के कीड़े मिलते हैं उसके शरीर में ज्वर भी रहता है। ज्वर और कीड़े एक चीज़ नहीं हैं। यदि कीड़ों के कारण ज्वर पैदा हुआ है तो

भी कार्य कारण का भेद है। ज्वर के साथ कुछ और उपद्रव भी पैदा हुए हैं। वे चाहे कीड़ों के कारण उत्पन्न हुए हों चाहे किसी और कारण से उत्पन्न हुए हों, परन्तु यह बात सब डॉक्टर भी मानते हैं कि वे उपद्रव कीड़े नहीं हैं।

अब हम पूछते हैं कि साइन्स ने तो कुनैन से कीड़े ही मारे हैं। वे चाहे नली में हों चाहे शरीर में हों, कुनैन से मर जायँगे, परन्तु कीड़ों ने शरीर में जो विकार पैदा कर दिये हैं उन्हें कौन मारेगा? यह ठीक है कि कीड़े मर जाने के बाद उनसे आगे विकार पैदा न होंगे, परन्तु मरने से पहले कीड़ों ने जो विकार शरीर में पैदा कर दिये हैं उन्हें कौन दूर करेगा? जो चीज़ कारण को दूर करती है वह उसके कार्य को भी दूर कर दे, ऐसा तो कोई नियम नहीं है। तलवार लाठी को काट सकती है परन्तु लाठी ने जो सिर फोड़ दिया है उसे तलवार अच्छा नहीं कर सकती। कीड़े मरने के बाद शरीर में जो कीड़ों का पैदा किया हुआ ज्वर बचेगा वह किससे दूर होगा? यदि रोगी की प्रकृति इतनी प्रबल नहीं है कि उस हलकी हरारत को निकाल बाहर कर सके तो वह मीठा ज्वर कालान्तर में क्षय का रूप धारण करेगा या नहीं? क्या साइन्स ने इसका कोई प्रतीकार बताया है? फिर जो विकार कुनैन ने ही पैदा किये हैं उन्हें कौन दूर करेगा? क्या कुनैन ही? कदापि नहीं। बादल पृथ्वी पर लगी आग को बुझा सकता है परन्तु जो आग (बिजली) बादल ने ही स्वयं पैदा की है, उसे वह मूसलधार बरसकर भी नहीं बुझा सकता।

अब प्रश्न यह है कि कुनैन के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि में से वह कौन सा गुण है जो कीड़ों को मारने का

काम करता है? कीड़ों के उपद्रव शान्त करने का क्या उपाय है? कुनैन के दुर्गुण क्या क्या हैं? और कुनैन के विकार दूर करने का क्या प्रकार है? क्या साइन्स इन प्रश्नों का उत्तर दे सकती है? क्या संसार में साइन्स का पिछलगू एक भी डॉक्टर है जो इन प्रश्नों का उत्तर दे सके?

संभव है, इस पर कोई डॉक्टर साहब कह उठें कि इन प्रश्नों का उत्तर अभी साइन्स ने नहीं दिया है अतः संसार अभी इन प्रश्नों के उत्तर से वंचित है। जब साइन्स इनका उत्तर देगी तब देखा जायगा। अभी ऐसे प्रश्न उठाना ही मूर्खता है।

इस पर हमारा नम्र निवेदन है कि संसार तो इन प्रश्नों के उत्तर से वंचित नहीं है। हाँ, पश्चिमी साइन्स की पिछलगू अभागी ऐलोपैथी अवश्य इन प्रश्नों के उत्तर से अब तक वंचित है। भारतीय साइन्स में जो इन प्रश्नों का उत्तर देखना चाहें उनके लिये हम चरक का एक अंश उद्धृत करते हैं—

"तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुररोचकघ्नो विषघ्नः क्रिमिघ्नः मूर्च्छा,दाह,कण्डू,कुष्ठ,तृष्णाप्रशमनः त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्यशोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जालसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणः रूक्षः शीतो लघुश्च। स एवंगुणोऽप्येक एवाऽत्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुत्पादयति, बलमादत्ते, कर्षयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति।" (चरक, सूत्र०, अ० २६)

अर्थात् कड़वा रस स्वयं अरुचिकर होने पर भी अरोचक को दूर करता है। कड़वे रस को खाना कोई मनुष्य पसन्द

नहीं करता परन्तु उसमें अरुचिरोग (भोजन में रुचि न होने) को दूर करने की सामर्थ्य है। यह विष को भी मारता है और कीड़ों को भी मारता है। मूर्च्छा, जलन, खुजली, कोढ़ और प्यास को दूर करता है। त्वचा और मांस को स्थिर करता है। ज्वर दूर करता है, दीपन है, पाचन है, स्त्रियों या गौ आदि को खिलाने से उनके दूध को शुद्ध करता है और 'लेखन' गुणों से युक्त है। क्लेद, चर्बी, वसा (पतली चर्बी), मज्जा, लसीका, पीव, पसीना, पेशाव, पाखाना, पित्त और कफ को सुखाता है, रूक्ष है, ठण्डा है, और लघु है।

ये तो हुए कड़वे रस के गुण। परन्तु जब तक किसी वस्तु के गुण और दोष दोनों का पता न हो तब तक ज्ञान अधूरा ही रहता है, अतः महर्षि चरक ने गुणों के साथ ही कड़वे रस के दुर्गुण भी गिनाये हैं। आप कहते हैं कि यद्यपि कड़वे रस में ये सब गुण हैं परन्तु केवल उसी का सेवन करते रहने या अधिक मात्रा में उसका सेवन करने से, उसकी (कड़वे रस की) रूक्षता, खरता और विशदता के कारण रस, रुधिर, मांस तथा वीर्य सूखने लगता है, रगों में खुश्की पैदा हो जाती है, बल कम होता है। इसका अधिक सेवन देह सुखाता है, ग्लानि पैदा करता है, दिमाग़ कमज़ोर करता है, चक्कर पैदा करता है, मुँह सुखाता है और अन्य वातविकार भी पैदा करता है।

हम यह कह चुके हैं कि भारतीय साइन्स गुणों के द्वारा द्रव्यों की परीक्षा करने के कारण और अति सूक्ष्म तत्त्वों से आरम्भ होकर स्थूल जगत् पर पहुँचने के कारण संसार के भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब पदार्थों का निर्णय करने में समर्थ होती है परन्तु पश्चिमी साइन्स द्रव्यों के द्वारा

गुणों का अनुसन्धान करने के कारण, स्थूल पदार्थों से आरम्भ होकर सूक्ष्म पदार्थों पर पहुँचने की चेष्टा करने के कारण और दृश्य पदार्थों के आगे न पहुँच सकने के कारण वर्तमान काल के भी सम्पूर्ण पदार्थों का अनुसन्धान नहीं कर पाती, क्योंकि द्रव्य अनन्त हैं और उनकी चरम सीमा अदृश्य तत्त्वों पर निर्भर है: दृश्य अणुओं पर नहीं।

ऋषियों के वाक्यों में कुछ सूक्ष्म तत्त्व (विचार करने के गुर) ऐसे छिपे रहते हैं जो संसार के मूलमन्त्र कहे जा सकते हैं। चरक के इसी प्रकरण में कड़वे रस का वर्णन करते हुए उसमें तीन गुण बताये हैं। रूक्षत्व, शीतत्व और लघुत्व। इन्हीं के आधार पर इस रस के तमाम गुणों और दुर्गुणों का पता लगाया जा सकता है एवं दुर्गुणों से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा का मार्ग भी समझा जा सकता है। जो गुण या दुर्गुण चरक ने नहीं लिखे हैं उन्हें जानने के लिये भी यही कुञ्जी है। साथ ही इससे यह भी पता चल जाता है कि कड़वा रस स्थूल जगत् के किस मूल तत्त्व (वात, पित्त, कफ) की परम्परा में पैदा हुआ है। रूक्षत्व, शीतत्व, और लघुत्व वायु के खास गुण हैं। संसार के जिन जिन द्रव्यों में ये पाये जायेंगे वे सब वायु के वंशवृक्ष (शजरे) में शामिल समझे जायेंगे और रोगी के शरीर और रोग के गुणों का मिलान करके यह बात बड़ी सुगमता से स्थिर की जा सकेगी कि यह द्रव्य इस रोगी या रोग को कहाँ तक अनुकूल या प्रतिकूल पड़ेगा।

चरक के इस चक्कर में कुनैन हमारे हाथ से छूट गई। पाठक क्षमा करें। हम उसी का स्तोत्रपाठ कर रहे थे। कुनैन के किस गुण से कीड़े मरते हैं, इसका उत्तर साइन्स

ने तो अब तक नहीं दे पाया, परन्तु महर्षि चरक ने हज़ारों वर्ष पूर्व इसका वर्णन कर दिया है। और साथ ही उसके अधिक प्रयोग से वीर्य को दूषित करने, चक्कर लाने, खुश्की पैदा करने, बल घटाने आदि की बात भी कही है। परन्तु ३०—६० ग्रेन कुनैन को ब्रह्मचारियों के गले में उतारनेवाले डॉक्टर लोग इस अनसाइन्टिफ़िक बात पर ध्यान क्यों देंगे? जिन्हें विलायत की बिजली के सहारे भारत के सूर्य को देखने की आदत पड़ी है वे इधर ध्यान क्यों देंगे?

शायद कोई कहे कि कड़वेपन से कीड़े मरने की बात चरक ने बताई है, परन्तु आज ऐसी भी कुनैन मिलती है जिसमें कड़वापन नहीं होता। उससे भी कीड़े मरते हैं। फिर यह सिद्धान्त कैसे ठीक हो सकता है? जब साइन्टिफ़िक तरीक़ों से कड़वापन दूर कर दिया तो फिर कीड़े न मरने चाहिये।

प्रथम तो अच्छे डॉक्टर लोग मीठी कुनैन को पसन्द ही नहीं करते। उनका कहना है कि इसका उतना असर नहीं है जितना कड़वी कुनैन का। यह एक ही बात चरक के सिद्धान्त की सत्यता सिद्ध कर देने को काफ़ी है। कड़वापन दूर करने के साथ ही उसकी कीड़े मारनेवाली शक्ति भी क्षीण हो गई, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। दूसरे, कड़वापन मालूम न होने के भी तीन उपाय हैं।

१—रसना इन्द्रिय में तिक्त रस को ग्रहण करनेवाली स्नायु (रगों) को मूर्च्छित कर देने से कड़वापन प्रतीत नहीं होगा। यदि थोड़ी सी हरड़ ज़रा देर तक चबाते रहिये और उसके बाद कड़वी से कड़वी कुनैन खाइये तो उसके कड़वेपन का बिल्कुल ज्ञान नहीं होगा। आप आटे की तरह उसे फाँक जायेंगे। हरड़ में रूप, रस, गन्ध आदि अनेक

गुण है। उनमें से कड़वे रस की रगों को मूर्च्छित करने की सामर्थ्य उसके कषाय रस में है। आयुर्वेद में हरड़ के पाच रस माने हैं। नमक के सिवा अन्य सब रस इसमें हैं। हरड़ के ऊपरी बारीक छिलके में और रस, उसके रेशों (स्नायु) में और, उसकी वृन्त (फल की डण्डी) में और, उसके बीज की मींग में और एवं उसके गूदे में और रस है। मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय ये पाँचो रस इसमें हैं। परन्तु इनमें से पूर्वोक्त कार्य करने की सामर्थ्य कषाय रस में ही है अतः उसका गूदा चबाना चाहिये। गुठली आदि नहीं। इसी प्रकार गुड़मारनामक बूटी की पत्तियाँ चबाने से जीभ में से मीठे रस का अनुभव जाता रहेगा। बूरा रखे से भी बुरी मालूम होगी। इसे यदि कुछ दिन खाता रहे तो शरीर में से मीठा रस क्षीण हो जाय। मधुमेह (Daibetes) के रोगी को यह हितकर होती है। परन्तु अधिक दिनों तक बराबर नहीं खिलाते और अकेली भी नहीं खिलाते। कई चीज़ें साथ मिलाकर देते हैं क्योंकि कई दोष भी उसमें हैं। चिकित्सा के समय उनका ध्यान रखना पड़ता है। ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जो किसी रस का अनुभव रोक सकती हैं।

२—यदि कड़वी वस्तु के ऊपर कोई आवरण कर दिया जाय जिससे उन स्नायु के साथ असली द्रव्य का सम्बन्ध न होने पाये तो भी कड़वापन मालूम न होगा।

३—वस्तु के त्रसरेणुओं में परिवर्तन पैदा करके उसके रस को अन्तर्हित कर दिया जाय अथवा कड़वे अणुओं को बिल्कुल निकाल दिया जाय तो भी कड़वापन प्रतीत न होगा। एक वस्तु में अनेक रस रहा करते हैं। जिस रस की

अधिकता होती है और अन्य रसों का अनुपात जिस रस को प्रकट करने के अनुरूप होता है उसी की स्पष्ट प्रतीति हुआ करती है। हरीतकी के पाँच रसों की बात हम अभी कह आये हैं। परन्तु खाने पर कषाय रस के सिवा अन्य रस की स्फुट प्रतीति नहीं होती। मीठी कुनैन बनाने में उसके कड़वे परमाणु जिस क़दर दूर कर दिये जाते हैं, उतनी ही कीड़ों के मारने की उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। जो कुछ कड़वे अणु बच रहते हैं वे अन्य रस की अधिकता और अपनी प्रतीति के विरूप अनुपात होने के कारण कड़वेपन का ज्ञान नहीं करा सकते। यदि कड़वे अणुओं को बिल्कुल निकाल दिया जाय तो निःसन्देह कुनैन से कीड़े मारने की शक्ति भी एकदम दूर हो जाय।

अच्छा अब इन बातों को छोड़िये। हमें तो कुनैन को 'कर्मनाशा' बहानेवालों से यह पूछना है कि जब आपके पास ज्वर की सीमा जानने का कोई उपाय ही नहीं है—जब आप यह बता ही नहीं सकते कि रोगी को ज्वर कितना है और उसकी असली गर्मी कितनी है—तो आप कुनैन की मात्रा का निर्णय किस आधार पर करते हैं? 'जितना रोग उतनी दवा' वाले सिद्धान्त का आपके पास क्या समाधान है? रोगिपरीक्षा भी तो आपकी साइन्स में नहीं है। सिवा इसके कि मोटा पेट देखकर मोटी टिकी और छोटे पेट पर छोटी गोली आप दे मारें। और आप क्या कर सकते हैं? परन्तु हाड़, मांस की मुटाई से प्रकृति और सत्त्व के तत्त्वों का पता आपको कैसे लगेगा?

"दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः········महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहाः" चरक के इस प्रत्यक्ष-

सिद्ध सत्य का आपके पास क्या जवाब है? फिर औषध के विषय में भी तो आपका ज्ञान अधूरा है। कुनैन से कीड़े मारने के सिवा और आपकी साइन्स ने क्या बताया है? इससे क्या क्या हानि हो सकती है, इसमें तो आपकी साइन्स अभी गूँगी है।

कीटाणुसिद्धान्त या जर्म्सथिउरी के अनुयायियों से हम एक बात पूछना चाहते हैं। रोगी के रुधिर में या अन्य किसी अंश में आप लोग कीड़े पाकर उन्हें रोग का कारण बताते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि वायुमण्डल में करोड़ों कीड़े प्रतिक्षण विचरते रहते हैं। वे सभी मनुष्यों के शरीरों पर सदा आक्रमण करते रहते हैं। जहाँ उन्हें अपने जम जाने की अनुकूलता मिल जाती है, उसी जगह वे टिक जाते हैं और वहीं रोग पैदा करते हैं। यहाँ हम यह जानना चाहते हैं कि जब करोड़ों कीड़े हरएक आदमी पर प्रतिक्षण समान रूप से आक्रमण करते ही रहते हैं तो फिर सभी के शरीरों में उन्हें जगह क्यों नहीं मिलती? किसी एक जगह ही वे जम सकते हैं, सर्वत्र नहीं, इसका क्या कारण है? आप कहेंगे कि जिसकी प्रकृति इतनी दुर्बल है कि उन्हें निकाल बाहर नहीं कर सकती वहीं वे जमते हैं। परन्तु यह प्रकृति की दुर्बलता क्यों हुई? जिस आदमी को तीस वर्ष की आयु में राजयक्ष्मा के कीड़ों ने दबाया है उसे उन्होंने तीस वर्ष तक कैसे जीने दिया? निःसन्देह उसकी प्रकृति ने इतने समय तक उन कीड़ों को मार भगाया। फिर आज वह उन्हें क्यों नहीं भगाती? वह एकदम शक्तिहीन तो हुई नहीं है। अन्य रोगों के कीड़ों को वह आज भी नहीं जमने देती। अन्यथा और भी रोग

उस पुरुष को होने चाहिये। फिर एक ही प्रकार के कीड़ों को उसकी प्रकृति क्यों आश्रय देती है? इससे स्पष्ट है कि रोग का मूल कीड़ों में नहीं बल्कि प्रकृति की उस दुर्वलता के भीतर छिपा है जिससे कीड़े आश्रय पाते हैं। जैसे पास पास जमे हुए नीम और आम एक ही पृथ्वी में से अपने अपने पोषण के लिये रस खींचते हैं, परन्तु आकर्षणशक्ति या पाचनशक्ति की विलक्षणता के कारण एक केवल कड़वे अणुओं को अपनें में जमा करता है और दूसरा खट्टे मीठे अणुओं को ही आश्रय देता है। इसी प्रकार कोई प्रकृति की दुर्वलता किसी एक प्रकार के कीड़ों के अनुकूल पड़ती है, सबके नहीं। जिनके अनुकूल होती है वे ही वहाँ जमने लगते हैं और थूक, पाखाना, पेशाव आदि की परीक्षा करने पर दीखने लगते हैं। जिस तरह गेहूँ, चना आदि के घुनों की सूरत परस्पर भिन्न होती है और गेहुँओं का घुन अरहर में एवं अरहर का घुन गेहूँ—चावलों में पड़कर नहीं जी सकता उसी प्रकार कीटाणुओं का आकार भी परस्पर भिन्न होता है और जहाँ जिस प्रकृति को खाकर जीनेवाले कीटाणु अपना भोजन पाते हैं वे ही वहाँ जमते हैं, अन्य भाग जाते हैं या मर जाते हैं। प्रकृति की दुर्वलता इन कीटाणुओं ने नहीं पैदा की, वल्कि वह पहले किसी रोग के कारण दुर्वल हो चुकी तब उसे दुर्वल पाकर कुछ कीटाणुओं ने वहाँ अपना पैर जमाया। भिन्न भिन्न प्रकृति भिन्न भिन्न कीटाणुओं को आश्रय देती है। कीटाणुओं के सिद्धान्त का उल्लेख वेदों में भी है, परन्तु जिस रूप में ऐलोपैथी उसे मानती है, उस रूपमें वेदों ने उसे स्वीकार नहीं किया है। इसके प्रमाणों का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

be frustrated. He, therefore, waxes eloquent in praising its qualities but carefully avoids disclosing the ingredients, without a knowledge of which, it becomes impossible for a physician to estimate how far it will suit the patient and the disease. But the allopaths—as a rule—make free use of the patent medicines. This one fact is quite sufficient to prove the inferiority of the western system.

13. That medicine alone is beneficial to a patient which is produced in the same climate in which the patient is born. Even in England, the question of climate is often raised. Between England and France, there is a distance of only a few miles; but on several occasions, the doctors of France have discarded the English medicines, saying that the climate of that place does not suit the patient in their country. And so have the doctors of England rejected the French medicines on the same ground. But in India nobody ever raised this question. Medicine prepared in every climate is supposed to suit an Indian. This event throws considerable light on the fact that in favouring Allopathy at the cost of indigenous medicines, commercial and mercenary motives were also prominent.

14. The more expensive kinds of instruments of the western system are neither available to each and every doctor, nor can the general public take advantage of them. In the United Provinces for a population of nearly 5 crores, only the Medical Colleges at Agra and Lucknow are properly equipped with up-to-

प्रकृतिपरीक्षा में निपुण कोई भी अच्छा चिकित्सक 'पेटेण्ट' दवायें देना पसन्द नहीं करता। जिस दवा के रहस्यों को किसी दूकानदार ने अपने लाभ की दृष्टि से गुप्त रक्खा है और कुछ ऊपरी बातें प्रकट कर दी हैं ऐसी 'पेटेण्ट' दवा को न तो कोई अच्छा वैद्य पसन्द करता है, न कोई ज्ञान-सम्पन्न यूनानी चिकित्सक ही पसन्द करता है। कोई भी समझदार आदमी इस अन्धे खेल से लोगों को हानि पहुँचाना उचित नहीं समझता, परन्तु ऐलोपैथ लोग नीचे से ऊपर तक—सब छोटे बड़े—सैकड़ों पेटेण्ट दवाओं का धड़ाधड़ प्रयोग करते हैं। हिन्दुस्तान भर में एक भी ऐलोपैथ ऐसा न मिलेगा जो पेटेण्ट दवाओं का प्रयोग न करता हो, या फिर उन पेटेण्ट दवाओं को बनाकर दिखा सके।

इससे स्पष्ट है कि औषध के रहस्य से पूर्ण परिचित न होने पर भी ऐलोपैथ लोग उसका बराबर प्रयोग करते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि ऐलोपैथी में दवाओं की बहुत कमी है। बड़े से बड़े डॉक्टर लोग भी अच्छी दवा के लिये मुँह बाये बैठे रहते हैं और जो कुछ 'पेटेण्ट-पेटेण्ट' मिलती है उसी का प्रयोग करने लगते हैं। दूसरे यह कि ऐलोपैथ लोग रोग, रोगी और औषध की प्रकृतियों के सामञ्जस्य-ज्ञान से एकदम शून्य होते हैं। यदि वे यह समझते होते कि इन तीनों प्रकृतियों का सामञ्जस्य करना ही असली चिकित्सा है तो वे ऐसी औषधों का प्रयोग कदापि न करते जिनके सम्बन्ध में उन्हें सर्वाङ्गीण ज्ञान नहीं है।

यह तो हुई रोगपरीक्षा, रोगिपरीक्षा और औषधपरीक्षा की बात। अब ऐलोपैथी की पथ्यव्यवस्था पर भी एक नज़र डाल जाइये। कई बड़े बड़े ऐलोपैथ डॉक्टर अपने

व्यवस्था-पत्रों (नुसखों) की पीठ पर भोजन की चीज़ें छपाये रहते हैं। रोग चाहे कोई हो, परन्तु खाने की चीज़ों में 'सब धान बारह पसेरी' ही रहेंगे। विलायत से नये आये किसी डॉक्टर से पथ्यव्यवस्था पर बातचीत कीजिये तो ऐलोपैथी की पोल का पता चले। वे लोग इस विषय में एकदम ज्ञानशून्य होते हैं। हलकी और जल्दी हज़म होनेवाली चीज़ें रोगी को खानी चाहिये, इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ ज्ञान नहीं होता। हम जब चन्द्रनगर (बङ्गाल) में आयुर्वेद के कुछ अंशों की पूर्ति करने गये थे तो वहाँ श्रीयुत डॉक्टर चारुचन्द्र दत्त M. A., L. M. S. महाशय से शारीरविज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ सीखते थे। एक दिन हमने पूछा कि आप लोग हरएक रोग में दूध पीने को क्यों बताते हैं? उन्होंने बताया कि शरीर में अन्न हज़म करने के लिये दाँतों का स्राव (लार) और आँतों का स्राव प्रधान सहायता करता है। मांस और घी केवल एक ही स्थान पर हज़म होते हैं, परन्तु दूध को हज़म करनेवाले कईएक स्थान हैं। यह बहुत जगह हज़म होने के कारण शीघ्र पचता है। हमने पूछा कि दूध पीने के बाद उससे क्या क्या बनता है और उसका शरीर के तत्त्वों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी कुछ विचार आपके यहाँ है? तब उन्होंने कहा कि हमारे यहाँ इस प्रकार विचार करने की शैली नहीं है। खाने की हरएक चीज़ से जैसे खून बनता है वैसे ही दूध से भी बनता है। और कोई विशेषता नहीं है। मतलब यह कि 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' ने अभी तक भोजन के प्रत्येक पदार्थ के साथ रोग और रोगी की प्रकृति का सामञ्जस्य नहीं कर पाया है; वह

अभी इस मार्ग में बिल्कुल कोरी है। यदि भारत के किसी गँवार से भी पूछिये तो वह कफ, खाँसी में दूध को अहित बतायेगा। नये ज्वर में दूध देना अच्छा न समझेगा। 'तदेव (दुग्धं) तरुणे (ज्वरे) पीतं विषवद् हन्ति मानवम्' की बात को यहाँ का बच्चा भी जानता है। परन्तु साइन्टिफ़िक चिकित्सा को इस मार्ग में अभी इतना भी ज्ञान नहीं है।

यदि आप आयुर्वेद के ग्रन्थों में देखें तो वहाँ आपको दूध की कई धारायें मिलेंगी। गौ, भैंस, घोड़ी, ऊँटनी, भेड़, बकरी आदि के दूध का अलग अलग वर्णन मिलेगा। इनके गुण भी मिलेंगे और साथ ही इनके अवगुण भी मिलेंगे। हाँ, विलायती डब्बे के नक़ली दूध का वर्णन कहीं न मिलेगा।

यदि किसी कैमिस्ट (Chemist) या डॉक्टर से पूछिये तो वह यह तो विश्लेषण कर देगा कि इस दूध में इतनी शकर, इतना स्नेह (डॉक्टरी शब्दों में चर्बी), इतना जल, इतना नमक, इतनी प्रोटीन और इतनी कार्बन है। परन्तु इन सब अनुपातों के मिश्रण का मनुष्य या अन्य प्राणियों के देह और मन पर क्या प्रभाव होगा, या इन सब प्रत्यक्ष द्रव्यों के अतिरिक्त चेतन शरीर पर प्रभाव डालनेवाली उन दूधों में छिपी हुई कौन सी सूक्ष्म (अप्रत्यक्ष) शक्तियाँ हैं, इसका पता जड़ साइन्स को न लगेगा। भैंस के दूध से बुद्धि मन्द क्यों होती है और बकरी का दूध क्षयरोग में क्यों हितकर है, इसका पता जड़ विज्ञान को न लगेगा।

हमने एक ऐसी घोड़ी देखी है जो पानी में घुसते ही भैंस की तरह लोटने लगती थी। एक अपरिचित सवार उस पर बैठकर नदी में घुसा तो बड़ी विपत्ति में पड़ गया। जाँच करने से मालूम हुआ कि उस घोड़ी के पैदा होते ही

उसकी माँ मर गई थी और ठाकुर साहब ने अपनी भैंस का दूध पिलाकर उसे पाला था। क्या ऐलोपैथी का कोई औज़ार आयुर्वेद की तरह इस बात के कारण की मार्मिक मीमांसा कर सकता है? क्या साइन्स का कोई यन्त्र यह बता सकता है कि ऐसी दशा में किसका दूध देना चाहिये और यदि भैंस का दूध ही देना हो तो किस प्रकार देना चाहिये जिससे यह दोष पैदा न हो? क्या ऐलोपैथी के पास ऐसा कोई नश्तर है जिससे आपरेशन करने पर घोड़ी के इस मानसिक और कायिक परिवर्तन का पता लगाया जा सके? जिससे घोड़ी के मन में पानी के भीतर लोटने की इच्छा और शरीर में भैंस की सी क्रिया एवं उसकी बुद्धि में इससे होनेवाले आनन्दानुभव के कारण की जाँच की जा सके? वात, पित्त, कफ को आपरेशन करके देखने की इच्छा रखनेवाले महाशय क्या इसका कुछ जवाब देंगे?

सारांश यह कि ऐलोपैथी में पथ्य की सुचारु विवेचना का कोई साधन नहीं है। परन्तु आयुर्वेदिक सिद्धान्तानुसार देखा जाय तो यहाँ पथ्य ही सब कुछ है। यहाँ का तो यह दृढ़ सिद्धान्त है कि यदि पथ्यव्यवस्था ठीक है तो बिना औषध के भी रोगी अच्छा हो सकता है और यदि पथ्य गड़बड़ है तो हज़ार औषधों से भी पूरा लाभ न होगा।

'पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः।'

यहाँ तो रोगों की जड़ ही मिथ्या आहार (भोजन) और विहार है। जहाँ रोगों के लक्षण शुरू होते हैं वहाँ आरम्भ ही इस प्रकार होता है कि इस प्रकार के आहार—विहार से अमुक दोष कुपित होकर इस इस रोग को पैदा

करता है। यहाँ चिकित्सा की पहली सीढ़ी ही यह है कि जिस प्रकार के आहार—विहार से रोग पैदा हुआ है उसे सबसे पहले बन्द किया जाय। यदि दूध के अतियोग से रोग उत्पन्न हुआ है तो उसे भी बन्द करना ही होगा। चाहे वह अनेक जगह हज़म होता हो, चाहे हलके से हलका हो, रोग के कारण को रोकना ही होगा।

इन सबका कारण भी स्पष्ट है। पश्चिमी साइन्स द्रव्यों के द्वारा गुणों तक पहुँचने का प्रयत्न करती है और संसार में द्रव्य अनन्त हैं एवं एक एक द्रव्य में गुण और शक्तियाँ भी अनन्त हैं। इन सबकी परीक्षा कर लेना असम्भव है। हज़ार—पाँच सौ द्रव्यों के जिन जिन गुणों की परीक्षा साइन्स ने कर पाई है उसी से उसके अनुयायी जैसे तैसे काम निकालते हैं। इसके आगे अज्ञान का गहरा अन्धकार है। फिर जो कुछ ज्ञान होता है। वह भी जड़ात्मक। अन्तःकरण और चेतना से असम्बद्ध। एलोपैथी की अपूर्णता और अनुपयोगिता का यही प्रधान कारण है कि वह सर्वांश में स्थूल साइन्स की पिछलगू बनी हुई है। यदि सम्पूर्णता प्राप्त करनी है तो उसे भी वेद और आयुर्वेद में निर्दिष्ट ऋषियों के प्रतिपादित मार्ग की शरण म एक न एक दिन आना ही पड़ेगा।

आप मिठास के द्वारा संसार की सब मीठी वस्तुओं की विवेचना कर सकते हैं और यदि खटास के गुणों से आप परिचित हैं तो संसार की भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब खट्टी वस्तुओं पर विचार करने का एक मार्ग आपको मिल जायगा। परन्तु हरएक मीठी या खट्टी वस्तु को ले ले के यदि आप परीक्षा आरम्भ करें तो जन्म जन्मान्तर में भी

परीक्षा पूरी न होगी। नई नई वस्तुएँ प्रकृति के पेट से पैदा होती ही रहेंगी और आप सदा अन्धे ही बने रहेंगे। इस प्रकृतिपरम्परा का पार पाने की कुञ्जी प्रकृतिपति परमेश्वर के प्रतिपादित सिद्धान्त के सिवा आपको और कहीं न मिलेगी। इसके लिये आपको ऋग्वेद की पूर्वोक्त ऋचा के अंश "त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती" पर ही ध्यान देना होगा।

हमसे पूछा गया था कि क्या हिन्दुस्तान भर में एक भी वैद्य ऐसा है जो आपरेशन करके शरीर के भीतर वात, पित्त, कफ दिखा सके? (पृ० ४४) अब हम पूछते हैं कि क्या संसार भर में एक भी ऐसा ऐलोपैथ है जो आपरेशन करके वात, पित्त, कफ को देख सके? क्या एक भी ऐलोपैथ को ऐसी आँखें प्राप्त हैं जो स्थूल जगत् के मूल कारण तक पहुँच सकें? क्या पश्चिमी साइन्स ने एक भी यन्त्र ऐसा बनाया है जो अणुओं के आगे की खबर दे सके? क्या दुनियाँ में एक भी ऐलोपैथ ऐसा है जो संसार में वात, पित्त, कफ से रहित कोई एक भी जड़ या चेतन वस्तु दिखा सके? वात, पित्त, कफ के जिन गुणों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, उनसे बाहर की कोई वस्तु लाने की सामर्थ्य किसी में है? यदि हो तो बोले। हम ऐलोपैथी को चैलेञ्ज करते हैं कि वह इस वैदिक मार्ग के सिवा कोई ऐसा मार्ग दिखाये जिससे भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सब रोगों का पता लग सके, सब प्रकार के रोगियों की प्रकृति आदि की परीक्षा हो सके और समस्त औषधों तथा पथ्यों की व्यवस्था हो सके।

आपरेशन करके वायु और पित्त को दिखाने का प्रश्न भी नितान्त बुद्धिशून्यता का परिचायक है। हम पूछते हैं, क्या किसी डॉक्टर ने आपरेशन करके आज तक प्राणों को देखा

है ? क्या आपरेशन के बाद न दीखने के कारण डॉक्टर लोग प्राणों की सत्ता से इनकार करेंगे? प्राण एक प्रकार की वायु ही है।

क्या आपरेशन करने पर किसी ने चेतनाशक्ति को पाया है? फिर क्या ज्ञान की सत्ता अस्वीकार की जायगी? यदि लालटैन या बिजली के जलते हुए बल्ब (बत्ती) को देखकर कोई कहे कि बैटरी खोलने पर यदि उसमें इसी प्रकार के प्रकाश का कुण्ड मिले तो मैं बिजली की सत्ता स्वीकार करूँगा, अन्यथा नहीं, तो उससे बढ़कर मूर्ख कौन होगा? जिसप्रकार बिजली की बैटरी में कोयला या जस्ता और ताँबा एवं मसाले (पोटेशियम क्लोराइड, नौसादर और नमक) के पानी तथा तारों के सिवा और कुछ नहीं मिलता इसी प्रकार शरीर के भीतर कुछ स्थूल पदार्थ तथा पित्तकोष में गहरे हरे पीले रंग का थोड़ा सा मसाले का पानी और रगों के तारों के सिवा कुछ नहीं मिलता। जैसे उसी बैटरी से बिजली बन बन कर निकलती है और तारों के द्वारा पहुँचकर बल्व में स्थिर प्रकाश का रूप धारण करती है इसी प्रकार पित्तकोष से उत्पन्न हुआ पित्त नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क के प्रकाशक स्नायुजाल में पहुँचकर आँखों में चमकने लगता है, और 'आलोचक पित्त' के नाम से आयुर्वेद में पुकारा जाता है। जैसे बिजली का हरएक तार बिजली के प्रवाह से व्याप्त है उसी प्रकार शरीर की समस्त रगें भी पित्त के प्रवाह से व्याप्त हैं और स्थानभेद से उसका नाम-भेद होता है। जैसे बिजली के तारों में बिजली के सिवा कुछ और भी रहता है इसी प्रकार शरीर की नाड़ियों में भी पित्त के अतिरिक्त अन्य धातु भी रहते हैं। जैसे बैटरी के

कमज़ोर या बिगड़े हुए होने पर बिजली की धारा कमज़ोर होती है या बिगड़ जाती है इसी प्रकार पित्ताशय की विकृति से शरीर में भी पित्त के विकार दीख पड़ते हैं। जैसे बैटरी बिजली का स्थान कहाती है और समस्त तार बिजली से व्याप्त माने जाते हैं वैसे ही शरीर में पित्त का एक प्रधान स्थान भी माना है और सब शरीर की स्नायु (छोटी छोटी रगों) को उससे व्याप्त भी माना है। इस एक ही दृष्टान्त से सब प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं। क्या अब भी ऐलोपैथ लोग वात, पित्त को आपरेशन करके ही देखना चाहेंगे? "उनको यह ज़िद है कि हम दर्देजिगर देखेंगे।"

शरीर के भीतर किस औषध का क्या प्रभाव होता है? और क्यों होता है? इसकी ठीक ठीक विवेचना वही कर सकेगा जिसे औषध के गुणों का सर्वाङ्गीण ज्ञान है अर्थात् गुणों के साथ साथ उसके अवगुणों का भी पूरा ज्ञान है। रोगी की प्रकृति, सार, संहनन, सात्म्य आदि का ज्ञान है। देश, काल की प्रकृति का ज्ञान है। दोष, दूष्य, और रोग के बलाऽबल का ज्ञान है और इतनी अधिक ओषधियों का भी ज्ञान है कि जिनसे सब प्रकार के रोग और रोगियों की प्रकृति के साथ सामञ्जस्य बिठाया जा सके। इन बातों में ऐलोपैथी के पेट की पोल हम खोल चुके हैं। जिसके पास कुनैन के सिवा मलेरिया की कोई दवा ही नहीं है, वह क्या सामञ्जस्य बिठायेगी? 'नङ्गी नहायगी तो क्या निचोड़ेगी?'

आयुर्वेद में रोगों के साथ साथ उनके अनेक उपद्रव भी माने हैं। औषधों के गुणवर्णन के साथ उपद्रवों का भी वर्णन किया जाता है। उनमें से प्रधान रोग कौन हैं, और उपद्रव कौन कौन हैं एवं उन सब पर औषध के किस

किस अंश का कितना कितना प्रभाव पड़ता है, इस बात का निर्णय उस योग में कही हुई प्रत्येक दवा पर अलग अलग विचार करने से होता है। साधारण वैद्य भी इसमें चक्कर खाते हैं। बिना किसी अच्छे गुरु के, केवल 'भाषा टीका' के सहारे छिपे छिपे आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर लेने की इच्छा रखनेवालों की तो बात ही क्या? यही कारण है कि आयुर्वेद में "औषधों की तारीफ़ों के पुल" के नीचे आकर 'अनाड़ी' लोग गोता खाने लगते हैं—और यह पूछने लगते हैं कि "क्या यह सब सच है?" (पृ० ४५ देखिये)।

जिस योग में वात, पित्त, कफ तीनों से सम्बन्ध रखनेवाली दवायें हैं और ज्वर की ओर ही जिसका प्रधान लक्ष्य है, उसे 'सर्वज्वरविनाशनः' कहना क्या अनुचित है? अब रही ज्वर के साथ अन्य उपद्रवों की बात, सो अगर आपमें पेटेण्ट दवा देने के सिवा कुछ और भी तमीज़ है तो प्रत्येक दवा के रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव पर विचार कीजिये। फिर सबका मिलान करके समुदाय के प्रभाव को पहचानिये और रोगी के बलाऽबल तथा रोग के बलाऽबल को देखकर देशकालानुसार उसकी मात्रा का प्रयोग कीजिये। यदि आपको इतना ज्ञान है तो आपके लिये 'सर्वज्वरविनाशनः' कोई चीज़ नहीं। और यदि यह बात नहीं है तो सब कुछ लिखा रहने पर भी आप कुछ न कर सकेंगे। तलवार नहीं काटती, बल्कि खिलाड़ी का हाथ काटता है। समझे जनाब?

कुनैन एक प्रकार का विष है। उसके खाने से विष का प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है। उसे शमन करने के लिये दूध पीना आवश्यक है। डॉक्टर लोग भी इस बात को स्वीकार करते हैं। १० ग्रेन कुनैन की गर्मी खुश्की दूर करने के लिये

कम से कम एक सेर दूध आवश्यक है। यदि कुनैन खानेवाले मनुष्य की प्रकृति वातप्रधान या पित्तप्रधान है तो और भी अधिक चाहिये। अब ज़रा भारतवर्ष के दूध का हिसाब लगाइये। यहाँ ४० हज़ार गौएँ रोज़ाना के हिसाब से कटती हैं। आज से २५वर्ष पहले भारत में गौ, भैंस, बैल, बकरे, कुत्ते आदि सब पालतू पशु मिलाकर भी १० करोड़ से कम थे। दूध देनेवाले पशुओं की संख्या चार करोड़ से भी कम थी और दूध का औसत प्रति पशु।१सेर से भी कम। मनुष्यगणना के हिसाब से यदि दूध बाँटा जाता तो प्रति मनुष्य २॥ तोले से अधिक न होता। गाँवों में गोचरभूमि की व्यवस्था न होने के कारण किसान लोग खेती के लिये नितान्त आवश्यक पशु (बैल आदि) रखने में भी असमर्थ हैं। बहुत जगह तो हलों में बैलों की जगह भूख से जीर्ण शीर्ण हाड़ चाम के नरकंकाल स्वयं जुतते हैं, जिन्हें देखकर पत्थर का हृदय भी फटने लगता है। दूध तो दूर रहा, उन्हें बुरे से बुरे अन्न के भी दर्शन दुर्लभ हैं। गाँवों में प्रथम तो बड़े बड़े शहरों की भाँति दूध की दूकानें नहीं। यदि हों भी तो उसके ख़रीदने को पैसा कहाँ? आज हिसाब लगाया जाय तो प्रति मनुष्य एक तोले से अधिक दूध नहीं पड़ सकता। अब हम पूछते हैं कि ऐसे दीन हीन देश में जहाँ १ तोले से अधिक दूध है ही नहीं वहाँ ऐसी औषध का आँख मींचकर घोर प्रचार करना जिसमें १ सेर दूध से कम में काम नहीं चल सकता, मृत्यु को निमन्त्रण देना नहीं तो और क्या है? भारत की फ़ी सदी ८५ जनता गाँवों में ही रहती है, जहाँ दरिद्रता के नग्न नृत्य के कारण दूध के दर्शन भी दुर्लभ हैं। ऐसी जगह कुनैन जैसी विषैली दवा का

date accessories. These are properly utilized only by Europeans or by such Indians as are able to spend money like water. Five rupees for urine examination, ten for the examination of stool and another ten for blood are the least amounts charged. And if one examination is not satisfactory, a second or third has to be undertaken. At least fifty rupees are needed for the diagnosis of the disease before the proper treatment can begin. In India, where the average income of a person is at the most a few pice per day, how many men are there who can afford these expenses? Then again India is pre-eminently an agricultural country and more than 90 per cent. of the people live in vlllages. The doctors who are sent to the villages are not only not properly equipped with modern instruments, but in most cases are quite incompetent as well. Therefore, the Indian masses can derive absolutely no advantage from these modern equipments. All the public money spent on these accessories must be considered as wasted. For our poor people, the Indian medicines if provided for will be more useful, agreeable and cheap.

16. The Western method of investigation has got no means by which, like Ayurvedic system, it can know all the diseases in present, past or future and recommend medicines and diet accordingly. The western doctors are nonplussed as soon as a new disease makes its appearance. They have absolutely no means by which they can find out a remedy for a new disease, without victimizing the patients for

प्रचार करना उन्हें बेमौत मारना नहीं तो और क्या है? भारतवर्ष में प्रतिवर्ष कितनी कुनैन खपाई जाती है और दूध की ठीक ठीक मात्रा साल भर में यहाँ कितनी पैदा होती है, क्या 'प्रजा की मा बाप' सरकार इसका सच्चा ब्यौरा प्रकाशित करने की कृपा दिखायेगी?

भारत में दिन प्रतिदिन ज्वर का प्रभाव बढ़ रहा है। सरकारी मेडिकल रिपोर्ट से जाना जाता है कि Fever is a euphemism for insufficient food, scanty clothing and unfit dwellings,

अर्थात् पुष्ट भोजन और यथेष्ट कपड़ों की कमी तथा स्वास्थ्य बिगाड़नेवाले स्थान में रहना ही ज्वर के सबसे बढ़कर कारण हैं। भारत में प्रतिवर्ष ६—७ करोड़ मनुष्य ज्वर से तड़पते हैं और ५० लाख से अधिक यमपुर चले जाते हैं। अकेले इन्फ़्लुएंज़ा में ही एक करोड़ के लगभग मनुष्य स्वाहा हो गये। अब हम पूछते हैं कि जहाँ ज्वर के रोगियों की संख्या इतनी अधिक है और दूध का हिसाब तोले माशे पर है वहाँ कुनैन की वर्षा करना कहाँ तक उचित है? क्या कोई एलोपैथ इसका उत्तर दे सकता है?

आज भारत में बराबर बढ़नेवाले राजयक्ष्मा रोग के कारणों में एलोपैथी का भी बड़ा हाथ है। पहले तो दुग्धहीन दरिद्र, दुर्बल देश में कुनैन जैसे विष का आँख मीच-कर धड़ाधड़ प्रयोग किया जाता है, फिर यदि मीठा मीठा ज्वर बाक़ी रह गया तो थर्मामेटर की नोक के बल पर उसे नार्मल सिद्ध कर दिया जाता है। जब कुछ दिन बाद रोग ने भयानक यक्ष्मा का रूप धारण कर लिया तो No Medicine की घोषणा कर दी जाती है।

इस पर शायद कोई कहे कि जब कुनैन के सिवा संसार में मलेरिया की दूसरी औषध है ही नहीं तो सिवा उसके और दिया क्या जा सकता है ? रही भारत की दरिद्रता की बात, सो वह तो एक दो दिन में सम्हाल लेने की चीज़ है नहीं। अब उन रोगियों को बिना औषध के मरने देने की अपेक्षा कुनैन देना ही अच्छा है। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः।' Something is better than nothing.

इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि पहले तो संसार के सभी रोगियों के लिये एक दवा का आविष्कार कर लेने की बात ही अस्वाभाविक है। पेटेण्ट दवाओं से जनता को ठगनेवाले धूर्त लोग ही ऐसी बातें किया करते हैं। एक रोग की एक दवा हो सकती है। एक प्रकार के विष या एक प्रकार के कीड़ों पर प्रभाव डालनेवाली एक दवा मिल सकती है। जहाँ तक जड़ वस्तुओं का सम्बन्ध है वहाँ तक यह बात ठीक मानी जा सकती है। परन्तु सब प्रकृति, और सब अवस्थाओं के रोगियों को वही एक दवा आँख मीचकर नहीं दी जा सकती। इसके लिये सरकार का धर्म है कि वह अपनी प्रजा के लिये अच्छी से अच्छी (अहित न करनेवाली) औषध का प्रबन्ध करे। सोच विचार कर औषध दे सकनेवाले चिकित्सकों और देशकाल के अनुसार चलनेवाली चिकित्सा-पद्धति का प्रबन्ध करे।

लेकिन यदि कुनैन के जवाब की आयुर्वैदिक औषध देखने की किसी को ज़िद ही हो तो हम उसकी सेवा करने को स्वयं तयार हैं। हम ऐसी औषध दे सकते हैं जो मलेरिया के ऊपर कुनैन से अच्छा प्रभाव करती है। अच्छा इसलिये कि उससे न चक्कर आता है, न आँखें अन्धी होती हैं,

न कान बहरे होते हैं, न खुश्की बढ़ती है, न दूध की आवश्यकता होती है और न कुनैन की तरह कोई वीर्यविकार ही उत्पन्न होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि मलेरिया रोग को दूर करने में कुनैन से कम सामर्थ्य नहीं रखती। यह एक बूटी है। दो एक चीज़ और मिलाके इसे देश काल नुसार बनाया जाता है और अनुपानभेद से सब प्रकार के रोगियों की प्रकृति के अनुरूप बनाया जा सकता है।

आयुर्वेद में अनुपान, पथ्य और औषध की मात्रा ये तीनों बड़े महत्त्व की बातें समझी जाती हैं। वैद्य की बुद्धि की परीक्षा इन्हीं बातों में होती है। पुस्तकों में न इनका अधिक वर्णन है, न हो ही सकता है। हाँ, शास्त्रों में इतना दिग्दर्शन है कि बुद्धिमान् पुरुष को मार्ग बताने के लिये उससे अधिक की आवश्यकता नहीं है। रोगी की प्रकृति आदि और रोग के दोष-बल, दूष्य बल आदि एवं देश काल प्रभृति के अनुसार वैद्य को अपनी बुद्धि से अनुपान, मात्रा और पथ्य का निर्णय करना पड़ता है। रसों के लिये तो अनुपान ही प्रधान वस्तु है। ऊँचे रसों की एक चावल भर दवा में १६—१८ मात्रायें होती हैं। बिना मिसरी या ऐसी ही और कोई चीज़ मिलाये उसका विभाग करना ही कठिन है। जिस रस की मात्रा जितनी कम होती है उतना ही उसका प्रभाव तीव्र होता है। शरीर के समस्त स्नायुजाल को जगा देना और उसमें बिजली की शक्ति भर देना रसों का ही काम है। उस जगे हुए स्नायुजाल में व्याप्त वात, पित्त, कफ या इनके मिश्रित अंश पर जैसा प्रभाव पहुँचाना होता है उसी के अनुरूप अनुपान चुनना पड़ता है। रसप्रभाव, द्रव्यप्रभाव, दोषप्रभाव और विकारप्रभाव का प्रकरण चलाते हुए महर्षि चरक ने लिखा है—

"तैलसर्पिर्मधूनि वात,पित्त,श्लेष्मप्रशमनार्थानि द्रव्याणि भवन्ति, तत्र तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्नत्वाद्वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् । वातो हि रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति । विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते । तस्मात्तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति माधुर्यात् शैत्यात् मन्दत्वाच्च । पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च । मधु च श्लेष्माणं जयति रौक्ष्यात्तैक्ष्ण्यात्कषायत्वाच्च । श्लेष्मा हि स्निग्धो, मन्दो, मधुरश्च ।" (चरक विमान०, अ० १)

अर्थात् तेल, घी और शहद ये तीन द्रव्य यथाक्रम वात, पित्त और कफ को शान्त करनेवाले हैं । इनमें से तेल में चिकनई, गरमी (उष्णवीर्यत्व) और भारीपन है, इसलिये वह वायु को शमन करता है, यदि बराबर उसका व्यवहार जारी रक्खा जाय । क्योंकि वायु में रूक्षता, ठण्डक और हलकापन है । जब दो विरुद्ध गुण इकट्ठे होते हैं तो जो प्रबल पड़ता है, वह अपने प्रतिपक्ष का शमन करता है । यही कारण है कि यदि तेल का प्रयोग बराबर बना रहे तो उसके स्नेह (चिकनई) से वायु की रूक्षता शान्त होती है, उसकी गर्मी से वायु की ठण्डक दूर होती है और उसके भारीपन से वायु का हलकापन दबता है । इसी प्रकार घी में मधुरता, ठण्डक (शीतवीर्यत्व) और मन्दता है । पित्त में खटास और कड़वापन है एवं उष्णता और तीक्ष्णता है । पित्त के विरुद्ध गुण होने के कारण घी पित्त को शान्त करता है । एवं शहद में रूक्षता, तीक्ष्णता तथा कषाय रस है और कफ में स्निग्धता, मन्दता और मधुरता है । परस्पर विरोधी होने से शहद का अधिक सेवन कफ को शान्त करता है । आयुर्वेद में इसी प्रकार के

गुणों का दिग्दर्शन है जो अनुपान कल्पना में चिकित्सक को सहायता देता है। वैद्य जब रोगी को मकरध्वज या अन्य रस देने लगता है तो इन्हीं बातों पर विचार करने के बाद उसे शहद में घोलता है या मक्खन में, अथवा पान, अदरख, तुलसी आदि के रस में। रोगी के शरीर में जिस गुण के पहुँचाने की आवश्यकता है उसी गुण से युक्त द्रव्य को वह रस के अनुपान में रखता है। तैजस होने के कारण रस का प्रभाव साक्षात् दोषों पर होता है और रस के पीछे लगा हुआ अनुपान थोड़ा होने पर भी शरीर में बढ़े हुए दोष से तुरन्त टकराने लगता है एवं रस की सहायता से उस पर अपना प्रभाव भी जमा लेता है।

अब हम कुनैन घोलनेवालों से पूछते हैं कि स्पिरिट या और किसी चीज़ में कुनैन घोलते समय वे क्या विचार करते हैं? 'गँवार वैद्यों' के से जटिल विचार तो उनके यहाँ हैं नहीं। वहाँ तो मोटर की सीधी सड़क है। उनकी साइन्स में तो यही लिखा है कि कुछ चीज़ें पानी में घुलती हैं, जैसे नमक, शकर आदि। गरम पानी में ठण्डे पानी की अपेक्षा घोलने की शक्ति अधिक है, इसलिये ठण्डे पानी की अपेक्षा गरम पानी में शकर अधिक मात्रा में घुल सकती है। जो चीज़ें पानी में नहीं घुल सकतीं—जैसे चपड़ालाख, कपूर, गन्धक आदि—वे स्पिरिट में घोली जा सकती हैं। परन्तु ठण्डा पानी, गरम पानी और स्पिरिट का रोगी के ऊपर कैसा भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है, इसकी मीमांसा तो साइन्स में है नहीं। फिर जिस रोगी को स्पिरिट अनुकूल नहीं हो सकती उसे ऐलोपैथ लोग वह दवा काहे में घोलकर देंगे जो स्पिरिट के सिवा और किसी में घुल ही नहीं सकती?

घी, शहद और तुलसी के रस की तो वहाँ गुज़र ही नहीं है। काबे में काफ़िरों का क्या काम ? फिर वह इनमें घुल भी तो नहीं सकती। सच तो यह है कि वहाँ इस ढंग की विचार-शैली ही नहीं है।

यद्यपि हम यह कह चुके हैं कि इस प्रकार की बूटियाँ तथा अन्य आयुर्वेदिक औषध हैं जो कुनैन के दुर्गुणों से रहित हैं और मलेरिया पर अच्छा प्रभाव करती हैं। यदि सरकार या कोई डॉक्टर उनकी परीक्षा करना चाहे तो हम दे भी सकते हैं। यदि मलेरिया के कीटाणुओं का सिद्धान्त निर्भ्रान्त है तो निःसन्देह कीटाणुओं पर भी उनका प्रभाव अवश्य होगा। बाक़ी सब बातें तो प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। दस, बीस, पचास रोगियों पर परीक्षा करके देख लीजिये। परन्तु हमारी इन बातों का सरकार पर या डॉक्टरों पर कुछ प्रभाव पड़ेगा, इसकी हमें तनिक भी आशा नहीं है। हमारा यह कथन 'नक़्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़' की तरह आकाश ही में विलीन हो जायगा। इसके लिये हमें कोई पश्चात्ताप भी न होगा। क्योंकि पहले तो डॉक्टरों से औषधनिर्माण का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यूरोप से आई हुई दवा को दनादन देने के सिवा और इन लोगों का कुछ काम नहीं होता। यूरोपीय महायुद्ध के बाद जो कुनैन यहाँ आई थी वह अत्यन्त दूषित थी। अनेक डॉक्टर लोग भी यह स्वीकार करते थे कि इससे गर्मी, खुश्की आदि बहुत होती है। यह भी सुना गया कि कई रोगियों को उससे ख़ून आने लगा, परन्तु सभी डॉक्टर लोग हाय हाय भी करते रहे और उसी को बाँटते भी रहे। ऐसा कोई न निकला जो उसका संशोधन कर सके।

आज डॉक्टरों के लिये सब का सब सामान विलायत से ही आता है। तमाम दवाइयाँ, नश्तर, थर्मामेटर, स्टेथस्कोप, सुई, सूत, पट्टी और व्रणों पर बाँधने की रुई तक विलायत से ही आती है। ये सब के सब हर चीज़ के लिये विलायत का ही मुँह ताकते हैं। बनाना तो दूर रहा, बिगड़े हुए थर्मामेटर या और किसी चीज़ को ठीक ठीक सुधार भी नहीं सकते। बड़े से बड़े डॉक्टर से विलायती चीज़ें छीन लीजिये और फिर देखिये कि वह किस काम का रह जाता है। वैद्य तो फिर भी पत्ती, बूटी, जड़ी जंगली वस्तु आदि इकट्ठी करके अपना काम चला ही लेगा। विलायत का आज विलोप हो जाय तो उसे कोई पर्वाह नहीं। उसके काम की सब चीज़ें उसे उसकी मातृभूमि ही देती है। परन्तु ज़रा डॉक्टर साहबान से तो पूछिये कि उनसे यदि विलायती चीज़ें छीन ली जाएँ तो वे फिर किस मर्ज़ की दवा रह जायेंगे? इस दशा में डॉक्टरों से देशीय ढंग पर आयुर्वेदिक दवा की परीक्षा होने की कोई आशा नहीं है।

अब रही विलायती सरकार। उससे भी आयुर्वेद के लिये कोई आशा नहीं की जा सकती क्योंकि भारत के हित की किसी बात पर नज़र डालने से पहले वह विलायती व्यापारियों की तोंद नापा करती है। यदि उसे उनकी तोंद के एक बाल भर भी घट जाने की आशङ्का होती है तो वह उस काम में टालमटोल शुरू कर देती है। कभी 'सार्वजनिक शान्ति के लिये अनावश्यक' बताकर टालती है, कभी 'अमन-क़ानून' की दुहाई देती है। किसी को 'अनसाइन्टिफ़िक' का बहाना बताकर हटाती है तो किसी को और कोई ऐसा ही गोलमटोल शब्द बोलकर नापसन्द कर देती है। यदि बहुत

शोरगुल मचाया तो नाममात्र की कोई कमेटी बनाकर वर्षों तक उसके विचारार्थ छोड़ देती है, पर कमेटी की नकेल अपने ही हाथ में रखती है। आयुर्वेद के प्रचार से तो विलायत के व्यापारियों की तोंद के कई इञ्च घट जाने की आशङ्का है। फिर भला विलायती सरकार इसे क्यों पनपने देगी? डॉक्टरों के लिये विलायती व्यापारी करोड़ों रुपये का सामान हर साल भेजा करते हैं। आयुर्वेद का प्रचार होने से उन्हें क्या मिलेगा?

भारतभूमि को जी भरके दुहने में डॉक्टर लोग बछड़े का काम देते हैं। दूध की दो चार बूँदें बछड़ों के मुँह में पहुँचती हैं और बाक़ी सब यार लोग उड़ाते हैं। फिर उन्हें सरकार मदद क्यों न दे? विलायत के व्यापारी अनेक पेटेण्ट दवाइयाँ बनाते हैं और पेलोपैथ डॉक्टर लोग धड़ाधड़ उन्हें बेचते हैं। पेटेण्ट दवा में रोगी की प्रकृति आदि का सामञ्जस्य करना असंभव है, परन्तु पेलोपैथ लोग जितनी पेटेण्ट दवाइयाँ आँख मींचकर देते हैं इतनी कोई नहीं देता। विचारपूर्वक देखा जाय तो पेलोपैथ लोग विलायती दवाओं तथा अन्य सामान के एजेण्टमात्र हैं। ये न तो दवा बना सकते हैं, न उसका दोष दूर कर सकते हैं, न देश, काल, प्रकृति आदि के अनुसार औषध का प्रभाव बदल सकते हैं, न पेटेण्ट दवाओं की मीमांसा कर सकते हैं। ये तो सिर्फ़ विलायत से करोड़ों रुपये की कुनैन आदि दवायें मँगा सकते हैं और जैसी भी आई हों उन्हें उसी रूप में बेच सकते हैं। इन्हें इसी काम के लिये तयार किया गया है। फिर सरकार इनकी मदद क्यों न करे?

सरकार जानती है कि हिन्दुस्तान में बहुत से लोग

आयुर्वेदिक, यूनानी आदि चिकित्साओं से लाभ उठाते हैं, परन्तु सरकारी दफ़्तरों में ऐलोपैथों के सिवा किसी का सर्टिफ़िकेट (बीमारी का) स्वीकृत नहीं होता। प्रजा में अनुचित रीति से ऐलोपैथी की प्रतिष्ठा जमाने के सिवा इसका और क्या मतलब हो सकता है ? एक आदमी केवल सर्टिफ़िकेट के लिये डॉक्टर साहब को फ़ीस भी देता है और विवश होकर झूठ भी बोलता है। दूसरे से चिकित्सा कराता है और दूसरे का नाम लेता है। सरकार यह सब जानती है, पर उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती। निर्धन प्रजा का पैसा व्यर्थ बरबाद होता है तो हो, झूठ बोलने को बाध्य करने से प्रजा चरित्रहीन होती है तो हो, परन्तु विलायती व्यापारियों की तोंद के ख़याल से सरकार तो ऐलोपैथी की धाक जमायेगी, और फिर जमायेगी।

युक्तप्रान्त की सरकार, सुना है, देशी दवाओं के नाम से ५० हज़ार के लगभग प्रतिवर्ष दिया करती है। पर देती किसे है ? वैद्य, हकीमों को ? जी नहीं। वह देती है अपनी प्यारी सहेली ऐलोपैथी के चारागाहों—सरकारी अस्पतालों—को। देशी दवाओं के अनुसन्धान में भी लाखों रुपये स्वाहा होते हैं। पर होता क्या है ? मोटी तनख़ाहें पानेवाले कुछ 'गौराङ्ग महाप्रभु' पाले जाते हैं और काग़ज़ लिख लिख कर जमा किये जाते हैं। विलायती व्यापारी भले ही उनसे कुछ लाभ उठाते हों, पर यहाँ तो हमें कुछ दीखता नहीं। क्या ऐसी सरकार से हम आशा करें कि वह आयुर्वेद को हृदय से प्रोत्साहन देगी ? क्या हम यह आशा करें कि वह देशी औषधों का देशी ढङ्ग से अनुसन्धान करायेगी ? क्या हम आशा करें कि वह एक परिनिष्ठित रोगिशाला खोलकर

उसमें ऐसे रोगों की आयुर्वेदिचिकित्सा द्वारा परीक्षा करायेगी जिनके लिये ऐलोपैथी ने अब तक No Medicine (कोई दवा नहीं है) की घोषणा की है ? क्या वह ईमानदारी से—विलायती व्यापारियों की तोंद का ख़याल न करके—उस अनुसन्धान का फल मनुष्यजाति के हित की दृष्टि से प्रकाशित करेगी ? हमें तो इसकी आशा नहीं है।

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम्"

चरक का सिद्धान्त है कि जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न हुआ है उसी देश की औषध उसे अनुकूल पड़ती है। भारत में कई ऋतु बदलती हैं। काव्यों में वर्षों में छः भिन्न भिन्न ऋतुओं का वर्णन मिलता है। वेदों और उपनिषदों में भी कहीं पाँच कहीं छः ऋतुओं की चर्चा है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ बहुत समय से कई ऋतु बदलते आ रहे हैं। यहाँ के मनुष्यों के शरीर और स्वभाव पर उनका बराबर प्रभाव पड़ता है। मनुष्यों के सिवा यहाँ की जड़ी—बूटियों और पशु—पक्षियों पर भी उनका असर होता है। यही कारण है कि यहाँ की जनता या पशुओं पर यहीं की ओषधियों का प्रभाव जैसा समुचित पड़ता है वैसा अन्य देश की ओषधियों का नहीं पड़ सकता। विलायत में यद्यपि इतना ऋतुभेद नहीं होता तथापि जल—वायु की अनुकूलता का प्रश्न अवश्य उठता है। फ्रांस और इँगलैण्ड के बीच केवल एक नहर है जो 'इँगलिश चैनल' कहाती है। इसकी अधिक से अधिक चौड़ाई २५—३० मील है। परन्तु फ्रांस के अनेक अच्छे डॉक्टर इँगलैण्ड की बनी बहुत सी दवाओं का प्रयोग, इसलिये नहीं करते कि फ्रांस को इँगलैण्ड की क्लाइमेट (जल—वायु) सूट (आनुकूल्य) नहीं करती।

their experiments. This fact was fully established when Influenza epidemic broke out for the first time in India. Nearly a crore of persons died from it, but allopathy could not do the least to prevent it. Everybody knows that Ayurvedic medicines cured comparatively a much larger number of cases.

16. It is a serious abuse of confidence to impose a treatment on a man on the basis of that system which is not yet definite but still in the making.

17. Whereas science confines its experiments mostly to material and inanimate objects, allopathy carries them into the regions of the living, where the same uniform results can never be obtained owing to an absolute change of conditions. For example science demonstrates that germs of malaria placed in a tube are destroyed by the administration of quinine but it has no such practical demonstration to show the effects of quinine on fever. Hence with regard to general diseases, western system is yet incomplete.

18. That system is not complete which is not able to know the qualities of the *doshas* and the changes brought about by them. Charaka has shown the process by which are known the qualities of quinine, its defects and the remedy for those defects. Science has got no *tube* for such experiments. Consequently the western system is unsuited for general diseases.

19. So long as science does not learn to stabilize the principles arrived at by experiments, and so long

इँगलैण्ड के भी अनेक डॉक्टर फ्रांस की बनी दवा की अपेक्षा इँगलैण्ड की बनी दवा का ही प्रयोग करते हैं और पूर्वोक्त कारण बताते हैं। यह सिर्फ़ ३० मील की दूरी का हाल है। परन्तु भारत में कई हज़ार मील का अन्तर होने पर भी यहाँ सब विलायतों की दवा लूट करती है। इँगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि सभी देशों की दवा भारतीयों के पशुशरीर में 'लूट' कर जाती है। यहाँ न तो किसी डॉक्टर ने और न सरकार ने कभी यह प्रश्न उठाया कि यहाँ अमुक देश की बनी दवा अनुकूल न पड़ेगी, क्योंकि यहाँ की और वहाँ की जल-वायु में आकाश पाताल का अन्तर है। सरकार यह प्रश्न उठाये भी क्यों? उसके इस प्रश्न से तो विलायती व्यापारियों की तोंद में गहरा गड्ढा पड़ जाने की आशङ्का है। रहे डॉक्टर साहबान, सो वे किस बिरते पर यह प्रश्न उठायें? उन्हें तो अपनी टूटी हुई सुई की नोक बनाना भी नहीं आता। दवा बनाना तो दूर रहा, वे तो ज़ख़्मों की रुई और पट्टी तक के लिये विलायत के मुहताज हैं। वे किस मुँह से ऐसी बात निकालें? ऐसे तो अनेक ऐलोपैथ हैं जो आयुर्वेद का नाम सुनते ही ऐसा बुरा मुँह बनाते हैं मानो हाइड्रोजन सल्फ़ाइड (साइन्स की एक अत्यन्त दुर्गन्धित गैस) का हण्डा फूट गया हो, पर इन बातों पर कभी ध्यान भी नहीं देते।

आजकल ऐलोपैथी में इन्जेक्शनों की बड़ी धूम है। डॉक्टर लोगों को इस पर गर्व भी कम नहीं है। चेचक का बचाव करने के लिये जैसे बड़ी से बड़ी चेचक (पशु की) का पीब लेकर अच्छे भले आदमी के खून में सुई के द्वारा प्रवेश करते हैं, इसी प्रकार अन्य रोगों में भी करते हैं।

सड़े से सड़े उपदंश (आतशक) के रोगी के व्रण का विष लेकर उसे दूसरे रोगी या स्वस्थ मनुष्य के खून में इन्जेक्ट करते हैं। मधुमेह में बैल की एक नाड़ी (पैंक्रियास) का सत्त्व निकालकर मनुष्य के खून में डालते हैं। ऐलोपैथी के नवीन अनुसन्धान ने यह पता लगाया है कि मधुमेह (डाइबिटीज़) में रोगी की पैंक्रियास नामक नाड़ी भीतर से घिस जाती है। उसके उभरे हुए दानों की कार्यक्षम शक्ति क्षीण हो जाती है अतः उसी नाड़ी का सत्त्व प्रवेश कराने से लाभ होता है। हम ऐलोपैथी के इस नवीन आविष्कार की विशेष परीक्षा करना अनावश्यक समझते हैं। यह हम मानते हैं कि मधुमेह के रोगियों को चीरकर डॉक्टरों ने उनकी पैंक्रियास नाड़ी को घिसा हुआ पाया है, परन्तु मधुमेह के कारण वह नाड़ी घिसी है या नाड़ी घिसने के कारण मधुमेह उत्पन्न हुआ है, इसकी मीमांसा केवल आपरेशन करके दिखा देने से न हो सकेगी। बहुत से रोगी ऐसे भी मिलेंगे जिनके पेट की नाड़ी नहीं घिसी बल्कि सिर के पिछले हिस्से की एक ग्रन्थि घिसी या विकृत है। इससे केवल पैंक्रियास के घिसने का सिद्धान्त दूषित हो जाता है। बहुत सम्भव है कि कोई ऐसा रोगी भी कभी निकल आये जिसके शरीर में इन दोनों के अतिरिक्त कोई तीसरी ही चीज़ घिसी हुई मिले। साइन्स इसके विरुद्ध न कोई ज़िम्मेदारी लेती है, न ले सकती है। परन्तु सिर और पेट के इन परस्पर विरोधी दृष्टान्तों से यह तो स्पष्ट है कि घिसी हुई नाड़ी या ग्रन्थि मधुमेह का कारण नहीं बल्कि मधुमेह के कारण इनमें से कोई घिस जाती है। लेखविस्तार के भय से हम इस पर यहाँ अधिक विचार

नहीं कर सकते। हाँ, इतना अवश्य कहेंगे कि जिन लोगों के सिर की ग्रन्थि घिसी है उन्हें बैल के पेट की नाड़ी का सत्त्व प्रविष्ट (Inject) करने पर भी कोई लाभ नहीं होता। जो चीज़ बिगड़ी है उसी का इन्जेक्शन होना चाहिये। पागल कुत्ते की खोपड़ी का विशेष अंश लेकर कुत्ते के काटे मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं।

राजयक्ष्मा (तपेदिक़ या Pthisis) में राजयक्ष्मा का ही विष रोगी के ख़ून में प्रविष्ट करते हैं। यह देखा गया है कि राजयक्ष्मा होने पर रोगी के छाती में व्रण (ज़ख़्म) होता है। उसमें एक प्रकार के कीटाणु (T. B.) पाये जाते हैं। जब कीटाणु एक जगह बहुत दिन तक रह जाते हैं तो वह स्थान अत्यन्त विषाक्त हो जाता है। इतना विषाक्त कि वे कीटाणु भी उसको खाकर मरने लगते हैं। तब वे उस केन्द्र को छोड़कर उसके चारो ओर बाहर की तरफ़ बढ़ने लगते हैं। इससे वह व्रण एक गोलाकार बन जाता है जिसके चारो ओर किनारे किनारे कीड़ों के झुण्ड विचरते हैं और बीच का हिस्सा अत्यन्त विषैले सड़े हुए पीब का केन्द्र बन जाता है। कीड़े पहले स्थान को छोड़कर आगे आगे बढ़ते जाते हैं और इस प्रकार मनुष्य की सम्पूर्ण छाती सड़ा डालते हैं। जो कीड़े अपनी पुरानी जगह नहीं छोड़ते वे मरने लगते हैं। क्यों मरते हैं, इसका ठीक ठीक पता तो पश्चिमी साइन्स को अब तक नहीं लगा, परन्तु वैज्ञानिकों का अनुमान है कि बहुत दिन तक जब कीड़े एक जगह रह जाते हैं तो उनका मल (पाखाना, पेशाब आदि) उस जगह बहुत इकट्ठा हो जाता होगा। उसी के कारण फिर वे वहाँ रहने से मरने

लगते होंगे । इधर ऐलोपैथी तो इन कीड़ों को अजर, अमर माने बैठी थी । उसे इनके मारने की कोई दवा दीखी ही न थी । उसने जब देखा कि यह सड़ा हुआ पीब इन कीड़ों का भी घातक है तो 'डूबते को तिनके का सहारा' मिला । उसने किसी सड़े से सड़े राजयक्ष्मा के रोगी का यही पीब, डाक्टरी शब्दों में उन्हीं कीड़ों का पाखाना लिया और अन्य रोगियों के शरीर में सुई द्वारा घुसेड़ना शुरू कर दिया । आजकल 'साइन्टिफिकचिकित्सा' राजयक्ष्मा का इलाज इसी तरह किया करती है । यही उसकी अप टू डेट साइन्स (Up to date science) है । इस सम्बन्ध में वैदिक तथा आयुर्वैदिक सिद्धान्तों का वर्णन हम आगे चलकर करेंगे ।

यहाँ पर हमें दो ही बातें कहनी हैं । एक तो यह कि जिस वस्तु से जो रोग उत्पन्न हुआ है उसी से वह जा सकता है, यह होम्योपैथी का सिद्धान्त है, ऐलोपैथी का नहीं । पागल कुत्ते के काटे पर यदि पागल कुत्ते का ही इन्जेक्शन होता है तो इसे ऐलोपैथी की नहीं बल्कि होम्योपैथी की विजय कहना चाहिये । यह उसी के सिद्धान्त की विजय है जो ऐलोपैथी के घर में घुसकर सब चिकित्साओं से अधिक प्रतिष्ठा पा रही है ।

दूसरी बात यह कि किसी अंश में तत्काल कुछ लाभ प्रतीत होने पर भी मनुष्य के हित की दृष्टि से स्थायी रूप में यह चिकित्सा अत्यन्त अनुचित है । आप देख सकते हैं कि एक सुन्दर स्वच्छ शरीरवाला आदमी एक सड़े गले कोढ़ी से घृणा करता है । रेल में यदि उसके पास कोई कोढ़ी आ बैठे तो उसे निकालने की कोशिश करता है । सीधे न

माने तो उससे लड़ाई झगड़ा भी करता है। इतने पर भी न निकले तो उसका जी घुटने लगता है, बदबू और पीव से मतली होने लगती है और वह अच्छा भला आदमी परेशान होने लगता है। परन्तु एक कोढ़ी के पास अगर कोई दूसरा कोढ़ी जा बैठे तो उसे न कोई घृणा होती है न परेशानी। दोनों मिलजुल कर चैन की वंशी बजाते हैं। इस दृष्टान्त से यह परिणाम निकलता है कि दो विरुद्ध प्रकृतियों के एकत्रित होने पर झगड़ा आरम्भ होता है किन्तु समान प्रकृतियों के मिलने पर नहीं होता। उस विरोध को दूर करने के दो ही मार्ग हैं। या तो बुरी वस्तु को निकाल बाहर कर दीजिये या अच्छी को भी उसी के सदृश बना दीजिये। या तो उस कोढ़ी को वहाँ से हटा दीजिये या उस अच्छे खासे आदमी को भी कोढ़ी बना दीजिये। अच्छी तरह कोढ़ी हो जाने पर फिर वह दूसरे कोढ़ी से घृणा न करेगा। जो आदमी शराब नहीं पीता वह शराबी से घृणा करता है, परन्तु यदि वह भी स्वयं शराबी हो जाय तो फिर दूसरे शराबी का स्वागत करने लगता है। परन्तु मानवहित की दृष्टि से अच्छे भले आदमी को कोढ़ी या शराबी बनाकर उसकी घृणा दूर कराना एक प्रकार का अपराध है। कोढ़ी या शराबी को उसके पास से हटाना ही उचित उपाय है। जो दशा मनुष्य के मन की है वही शरीर की भी है (महर्षि चरक ने मन और शरीर का जो सामञ्जस्य स्थिर किया है उसका वर्णन हम कर चुके हैं)। शरीर भी किसी विरोधी द्रव्य के घुस आने पर विकल हो उठता है। चाहे पागल कुत्ते का विष हो, चाहे उपदंश का या राजयक्ष्मा का। यदि अच्छे शरीर में वह घुसा तो

युद्ध आरम्भ हो जायगा। यदि विष दुर्बल है तो शरीर की प्रकृति उसे निकाल बाहर करेगी और यदि प्रबल है तो वह स्वयं लड़ते लड़ते व्याकुल हो उठेगी। इसी प्रकृति की व्याकुलता का नाम रोग है। अब हम पाठकों से पूछते हैं कि अच्छी चिकित्सा और अच्छे चिकित्सक का इस अवसर पर क्या काम होना चाहिये? दूषित विष को शरीर से निकालने की चेष्टा? या अच्छी प्रकृति को भी दूषित करने की चेष्टा? यदि शरीर के रुधिर को उसी तरह—कोढ़ी या शराबी की तरह—दूषित कर दिया तो बाहरी झगड़ा अवश्य मिट जायगा और सूक्ष्म दृष्टि न रखनेवाले विचारहीन पुरुष उस दशा को शान्ति की अवस्था भी कहने लगेंगे, परन्तु क्या वह वास्तविक शान्ति है? क्या वह मानवहित है? क्या अच्छे आदमी को कोढ़ी या शराबी बनाकर घृणा का झगड़ा मिटाना उचित है? क्या ऐसा करना अपराध नहीं है? आज ऐलोपैथी बड़े गर्व के साथ यही अपराध कर रही है और राज्य की अनुकूलता के कारण उसका बाल बाँका नहीं होने पाता। सोज़ाक, आतशक, राजयक्ष्मा, पेचिश, पागल कुत्ता आदि के नाना प्रकार के सड़े से सड़े विषों को मनुष्य के रुधिर में सीधा प्रवेश कराया जाता है और सम्पूर्ण शरीर को सदा के लिये दूषित बनाके प्रकृति की विरोधाक्षम दशा को शान्ति के नाम से पुकारा जाता है। फिर यदि इन्जेक्शन फ़ेल हुआ तो आगे सिफ़र! ऐलोपैथी की ओर से कोरा जवाब समझिये। "करोड़ों रुपये की विज्ञान-शालाओं में लाखों रुपये वेतन देकर हज़ारों यन्त्रों द्वारा सैकड़ों विद्वानों के नित नये आविष्कारों" का यह अन्तिम फल है!! हम ऐलोपैथी को चैलेञ्ज करते हैं कि वह हमारी इस उप-

पत्ति के विरुद्ध कोई एक भी उपपत्ति पेश करे। यदि उसमें हिम्मत हो तो वह यह सिद्ध करे कि उसके किये हुए इन्जेक्शन मनुष्य की प्रकृति को किसी प्रकार दूषित नहीं करते।

कितने प्राणियों का इससे क्या क्या अहित हुआ है इसका ठीक ठीक पता आपको कदापि न लगेगा। परन्तु आयुर्वेदिक चिकित्सा से उस दशा में भी अनेक रोगियों की प्राणरक्षा होती है। इसके उदाहरण हम आगे चलकर देंगे।

हाँ, कुछ इन्जेक्शन दवाओं के भी होते हैं यह हम मानते हैं। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि हिन्दुस्तान में टीका लगाने की प्रथा अँगरेज़ों के टीकासिद्धान्त से पहले ही विद्यमान थी। अल्मोड़ा आदि पहाड़ों में अब भी ऐसे अनेक बूढ़े पर्वतीय लोग मिलते हैं जिनकी कलाई पर प्राचीन भारतीय चेचक के टीके के चिह्न मौजूद हैं। पहाड़ में इस टीके की विधि और टीका लगाने के बाद आनेवाले ज्वर की चिकित्सा तथा इससे सम्बन्ध रखनेवाले उपद्रवों को शान्त करने के लिये कुछ मन्त्र प्रचलित हैं। अनेक लोगों के पास आज भी एक छोटी सी, दो तीन पत्रे की पुस्तक विद्यमान है जिसमें चेचक के टीके से सम्बन्ध रखनेवाली कई बातें हैं। अँगरेज़ी टीके के आविष्कार के बाद यह टीका ज़बर्दस्ती क़ानून द्वारा रोका गया है। ऐसा क्यों किया गया? क्या इसका भी कारण बताना होगा? ढाके की मलमल के चरखों और करघों का सर्वनाश अँगरेज़ों ने क्यों किया? इसीलिये कि ये सब 'अनसाइन्टिफ़िक' (Unscientific) थे।

जोशीले डॉक्टर और जोशीले वैद्य लोग जिस तरह की बातें किया करते हैं उसका बहुत कुछ नमूना हम दिखा

चुके हैं। हमारी अपनी तो यह सम्मति है कि अधिकांश जोश की जड़ में अज्ञान ही छिपा रहता है। हमारा जहाँ तक अनुभव है, वहाँ तक तो हमने यही सारांश निकाला है कि जिन डॉक्टरों को आयुर्वेद के सिद्धान्तों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता वे ही इसके नाम से चिढ़ते और इसे अनसाइन्टिफ़िक या अन्धपरम्परागत कहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो किसी छिपे स्वार्थ के कारण यह पाप किया करते हैं। परन्तु जिन डॉक्टरों ने आयुर्वेद के मार्ग में परिचय प्राप्त किया है, वे इसकी निन्दा नहीं करते प्रत्युत अनेक स्थलों में इससे सहायता भी लेते हैं। हमारे मित्र कईएक सज्जन ऐसे ही हैं। बङ्गाल में आयुर्वेद का विशेष प्रचार होने के कारण अनेक बङ्गाली ऐलोपैथ इसकी अनेक बातों से परिचित होते हैं और वे अपनी चिकित्सा के मार्ग में इससे लाभ भी उठाते हैं। परन्तु जो इसके सिद्धान्तों से नितान्त अनभिज्ञ हैं, जिन्होंने ऐलोपैथी के अतिरिक्त संसार में कुछ देखा ही नहीं है, अथवा किसी स्वार्थ का पातक जिनके सिर पर सवार है, वे अवश्य आयुर्वेद का नाम सुनते ही इस तरह भड़कते हैं मानों देहाती बैल को किसी ने काली छतरी दिखा दी हो। ऐसे ही लोग बड़ी बड़ी कौंसिलों में बैठकर आयुर्वेद को अवैज्ञानिक बताकर उसकी समस्त पुस्तकों को समुद्र में डुबा देने की 'नेक सलाह' दिया करते हैं। इधर वैद्यों का भी यही हाल है। जो संसार के वर्तमान स्वरूप से एकदम अपरिचित हैं, भारत की चहारदीवारी के भीतर का भी जिन्हें पूरा ज्ञान नहीं है, पूरे कूपमण्डूक हैं, प्राचीन पुस्तकों के कुछ श्लोक कण्ठ कर लेने मात्र से जो अपने को रोगियों की नौका का स्वयंसिद्ध खेवैया समझने

लगे हैं, न जिन्हें वर्तमान युग की आवश्यकताओं का पता है, न अपनी त्रुटियों का ज्ञान है, वे ही डॉक्टरों को कोसते और अपना दोष छिपाने के लिये धर्माधर्म की दुहाई देने पर उतारू हो जाते हैं। मानो धर्म का पट्टा ईश्वर ने इन्हीं के नाम लिख दिया हो!

संसार परिवर्तनशील है। यह कभी एक स्थिति में नहीं रहता। 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' का यहाँ अखण्ड साम्राज्य है। परन्तु अनेक वैद्य लोग आज भी बावा आदम के ज़माने की बातों को रेतने के सिवा एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ते। कुम्हार के चाक की तरह चाहे जितने ज़ोर से दौड़ें, पर रहते वहाँ के वहीं हैं। आज पृथ्वी की दशा वह नहीं है जो पहले युगों में थी। जल और वायु में वह शक्ति नहीं है जो पहले थी। गङ्गा और यमुना जैसी महानदियों में परिवर्तन हो गया है। ह्वेनसाङ्ग (चीनी यात्री) ने आज से १६ सौ वर्ष पहले भारत में जैसी गङ्गा का वर्णन किया था वह आज कहाँ है? आकाश के ग्रहों और उनके प्रभाव में अन्तर आ गया है। वृक्ष और वनस्पतियों की शक्ति में भेद पड़ गया है, परन्तु वैद्यों का दिमाग़ आज भी हज़ारों वर्ष की पुरानी बातों में ही चक्कर काट रहा है।

यह हम मानते हैं कि आयुर्वेद के सिद्धान्त सार्वभौम और सार्वजनीन हैं। सब प्रकार के देश और सब प्रकृति के पुरुषों की चिकित्सा का प्रकार यदि कहीं है तो केवल आयुर्वेद में ही है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान के सब रोगों के समझने और उनका प्रतीकार करने के मूलमन्त्र यदि कहीं हैं तो आयुर्वेद में ही हैं। यह सब हम मानते हैं। परन्तु एक

अच्छे चिकित्सक के लिये सामयिक वस्तुओं का परिचय, देश—काल की अवस्था का पूरा ज्ञान एवं नवीन आविष्कृत साधनों की सारता, असारता, हेयता और उपादेयता के पूरे अनुभव को भी हम नितान्त आवश्यक समझते हैं। वैद्यों में इसका एकदम अभाव है। इसी कारण ये लोग 'गँवार वैद्य' कहे जाते हैं। इसी अज्ञान के कारण कई लोग नवीन निस्सार साधनों को अपनाते हैं और उपादेय साधनों की ओर ध्यान भी नहीं देते। नाड़ी को छोड़कर, उसकी सूक्ष्मता की ओर ध्यान न देकर थर्मामेटर जैसे असार साधन से ज्वर के जानने की तो बहुत से वैद्य व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु एक्सरेज़ और माइक्रास्कोप की ओर ध्यान भी नहीं देते।

आयुर्वेद की ओर से सरकार की स्वार्थपूर्ण उदासीनता और उपेक्षा भी इसका प्रधान कारण है। आज डेढ़ सौ वर्षों से भारत में अँगरेज़ लोगों ने 'अमन और शान्ति' का भार ग्रहण करने की 'कृपा' की है, परन्तु प्रजा की प्राणरक्षक भारत की प्राचीनतम विद्या—आयुर्वेद—के लिये उन्होंने आज तक क्या किया है? अवैज्ञानिक कहकर कौन्सिलों में इसकी अवहेला तो अनेक वार की गई, परन्तु हम यह जानना चाहते हैं कि सरकार ने इसके विज्ञान को समझने के लिये क्या क्या उपाय किये हैं? किसी विज्ञान का ज्ञान प्राप्त किये विना ही उसे अवैज्ञानिक कहना कहाँ का न्याय है? आयुर्वेद का प्रचार हो जाने पर दवा और सामान के नाम से करोड़ों रुपये विलायत न भेजे जा सकेंगे, यह वात यदि स्पष्टरूप से सरकार कह दे तो हम मान लेंगे।

सरकार की इसी स्वार्थपूर्ण उदासीनता और उपेक्षा के कारण न कहीं आयुर्वेद की शिक्षा का अच्छा प्रवन्ध है,

as it does not give up changing them every now and then in the light of newer and newer experiments, the term scientific is no ground for pride but on the other hand should be a source of shame; scientific system thus means a system which is uncertain, doubtful, misleading and incomplete.

20. In many cases, circumstances thrust the foreign medicine on those who are not willing to take them. The Vaidyas being ignorant of the surgical branch, several people have to call the Doctor for a boil. And if he happens to have other diseases, naturally he has to take resort to the Doctor's medicine for them also against his will. There are very few such persons who can afford to pay both the surgeon and the physician. The Vaidyas are carefully kept away from the knowledge of surgery and they are not provided with any facility to learn it. They are not able even to organize themselves in a body, and the result of this is that large sums of money given in charity by the Indian philanthropists fill the coffers of allopathy and are not available for the improvement and furtherance of Ayurvedic system.

21. A certain number of men when ill take the medicine of some Vaidya, but in order to secure a medical certificate they have to go to an allopathic doctor. The reason for this is that certificates given by Indian Vaidyas are very seldom considered valid. And if a doctor's certificate is not produced, they are in danger of losing their service even. When they once go to the doctor for a certificate, in order to

न वैद्यों को नवीन आविष्कारों के देखने और उन पर विचार करने का अवसर है, और न आयुर्वेद के महत्त्वपूर्ण प्रयोगों से प्रजा को लाभ उठाने का अवसर है। न अच्छे वैद्यों को कोई आश्रय है, न आयुर्वेद को बदनाम करनेवाले अपढ़, कूड़मग़ज़ों को रोकने का कोई उपाय है। जिन्हें संस्कृत तो दूर रही, हिन्दी भी नहीं आती, अपना नाम और नुसख़े की दवाओं का नाम भी जो लोग ठीक ठीक नहीं लिख सकते, आज वे 'राजवैद्य' बने बैठे हैं, परन्तु कोई पूछनेवाला नहीं।

गाँवों में जाकर देखिये तो ऐसे लोग भी मिलेंगे, जो दिन में धोबी—जुलाहे या चमार का काम करते हैं और सायङ्काल मरीज़ों को देखते और दवा बताते हैं। पढ़ने लिखने की तो कोई ज़िकर ही नहीं। दो चार नुसख़े इन्हें कण्ठ हैं। उन्हीं को उलट पुलट कर हरएक के सिर पर दे मारते हैं। मूर्ख असहाय जनता दुःखित तथा विवश होकर उन्हीं के पास दौड़ी जाती है, और 'मां बाप' सरकार के ख़ज़ाने में ऐसे कामों के लिये रुपये का अकाल पड़ जाया करता है।

शहरों में भी लोग अत्तारी करते करते वैद्य, हकीम बन बैठते हैं और फ़ीस ऐंठने लगते हैं। गेरू और फिटकरी मिला मिला के कुनैन बाँटा करते हैं। ऐण्टी फ़ेबरीन का रङ्ग बदलकर उससे बुख़ार उतारा करते हैं। और भी अनेक अँगरेज़ी दवायें देकर आयुर्वेद को बदनाम करते हैं, परन्तु कोई पूछनेवाला नहीं। कोई बाबाजी की विभूति के नाम पर कौड़ी, कुचला, या गोदन्ती फूँककर बाँटा करते हैं। कोई ख़ानदानी नुसख़ों का ढकोसला बनाकर, स्वयं मूर्ख होने पर भी दुनियाँ को ठगा करते हैं। कोई दलालों के द्वारा दुकानदारी चलाते हैं। कोई अपनी आजीविका का अन्य

उपाय बन्द हो जाने पर वैद्यक करने लगते हैं और अनेक अँगरेज़ी दवाओं का नाम बदलकर या दूसरी दवाओं में मिलाकर दिया करते हैं। परन्तु इन 'राजवैद्य' बननेवाले ठगों और चोरों से यह पूछनेवाला कोई नहीं कि 'तुम्हारे मुँह में कितने दाँत हैं ?' चरक ने तीन प्रकार के वैद्य बताये हैं---

भिषक्छद्मचराः सन्ति सन्त्येके सिद्धसाधिताः ।
सन्ति वैद्यगुणैर्युक्तास्त्रिविधा भिषजो भुवि ॥ ५० ॥
वैद्यभाण्डौषधैः पुस्तैः पल्लवैरवलोकनैः ।
लभन्ते ये भिषक्शब्दमज्ञास्ते प्रतिरूपकाः ॥ ५१ ॥
श्रीयशोदानसिद्धानां व्यपदेशादतद्विधाः ।
वैद्यशब्दं लभन्ते ये ज्ञेयास्ते सिद्धसाधिताः ॥ ५२ ॥
प्रयोगज्ञानविज्ञानसिद्धिसिद्धाः सुखप्रदाः ।
जीविताभिसरास्ते स्युर्वैद्यत्वं तेष्ववस्थितम् ॥ ५३ ॥

(चरक, सूत्र० अ० ११)

अर्थात् जो अज्ञानी लोग बड़े बड़े नोटिस, लेबिल, बोतलें, पुस्तकें आदि का बाहरी ढोंग बनाकर जनता में वैद्यनाम से प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं, वे ठग कपटी वैद्य हैं और जो स्वयं मूर्ख होने पर भी पुराने किन्हीं पुरुषों का नाम लेकर अपना काम चलाते हैं वे 'सिद्धसाधित' कहाते हैं। ये भी ठग हैं। जिन्हें आयुर्वेद का विज्ञान और प्रयोगों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त है, जो चिकित्सा में सिद्धहस्त और रोगी को सुख, शान्ति पहुँचाने में समर्थ हैं वे ही सच्चे वैद्य हैं और उन्हीं पर जनता का जीवन निर्भर है।

आयुर्वेद में ठग वैद्यों को राजा के द्वारा दण्डनीय बताया है परन्तु हमारी 'मा-बाप' सरकार आज मानिनी नायिका की तरह 'टुक टुक दीदम, दम न कशीदम' की मूर्ति बनी

बैठी है। न आयुर्वेद की अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध करती है, न आयुर्वेद को बदनाम करनेवाले ठगों का कोई प्रतीकार करती है। यदि डॉक्टरों को आयुर्वेद के सिद्धान्तों का परिचय हो जाय और वैद्यों को नवीन आविष्कृत आवश्यक साधनों का ज्ञान प्राप्त हो जाय तो यह बखेड़ा भी मिट जाय और जनता को अच्छे चिकित्सक भी मिल सकें। परन्तु यह हो कैसे?

आयुर्वेद को बदनाम करने में बहुत बड़ा हिस्सा कुछ बङ्गाली दूकानदारों का है। कुछ तो ऐसे हैं जो रुपये ऐंठ-कर सर्टिफ़िकेट बेंचा करते हैं। अनेक अयोग्य और आयु-र्वेद के ज्ञान से शून्य धूर्त इनके यहाँ पहुँचते हैं और दक्षिणा के अनुसार छोटी बड़ी उपाधियाँ ख़रीद लाते हैं। बड़े बड़े नोटिसों और साइनबोर्डों में उन्हीं उपाधियों को लिख लिख कर जनता को धोखा देते हैं। जब कभी ग्रन्थों के पढ़ाने का अवसर पड़ता है तो इनकी पोल खुलती है। परन्तु रोगियों के बिगड़ने और इनकी मूर्खता प्रकट होने पर इनके साथ साथ आयुर्वेद भी बदनाम होता है।

कुछ बङ्गाली दूकानदार ऐसे हैं जो आयुर्वेदिक नाम रख-कर अँगरेज़ी दवाइयाँ बेंचा करते हैं। संस्कृत का नाम देखकर लोग उसे आयुर्वेदिक दवा समझते हैं और लाभ न होने पर आयुर्वेद बदनाम होता है। ये लोग मामूली आदमी नहीं हैं। बड़े बड़े मालदार और बड़े बड़े उपाधि-धारी हैं। धूर्तता के कारण ही बढ़े हैं। इन्हीं के चेले—चापड़ और प्रान्तों में भी हैं, पर गुरु सबके ये ही हैं।

बँगला मासिक पत्र 'भारतवर्ष', दशम वर्ष के द्वितीय खण्ड की तृतीय संख्या में ३६२ पृष्ठ पर श्रीयुत रमेशचन्द्र-राय L. M. S. ने 'ज्वर की कथा' शीर्षक नोट में लिखा है—

"मलेरिया ज्वरे कुइनाइन व्यवहार छाड़ा आर उपाय नाई। अन्ततः कलिकातार कविराजराओ गुलञ्च प्रभृतीर सङ्गे राशि राशि कुइनाइन लुकाइया व्यवहार करितेछेन। होमिओप्याथिकेराओ स्वादहीन 'इउकुइनिन' व्यवहार करितेछेन। ज्वरघ्नयत राज्येर पेटेएट औषधेओ राशि राशि कुइनाइन आछे।............ ....कविराजऔ होमियोप्याथेरा ज कुइनाइन के 'सर्वनाशकारी' बलिया प्रकाश्ये प्रचार करे, लुकाइया सेई कुइनाइन ई व्यवहार करिया पयसा उपार्जन करे, ए सार कथाटि स्मरण राखिबार उपयुक्त।"

अर्थात् "मलेरिया ज्वर में कुनैन खाने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। आखिरकार कलकत्ते के कविराज (वैद्य) लोग भी गिलोय के सत या किसी और दवा में छिपा के ढेर की ढेर कुनैन रोगियों को देते हैं। होम्योपैथ लोग भी मीठी कुनैन देते हैं। ज्वर की जितनी पेटेएट दवायें बनी हैं, सबमें कुनैन मौजूद है। यह एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि जो कविराज और होम्योपैथ लोग प्रकट रूप से कुनैन को 'सर्वनाशकारी' बताते हैं वे ही चोरी चोरी कुनैन खिलाके पैसा बटोरते हैं।"

बङ्गाल के समस्त कविराजों के सम्बन्ध में तो यह बात सत्य नहीं है। हमने स्वयं बङ्गाल में रहकर अनुभव प्राप्त किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कलकत्ते के बड़े बड़े धूर्त कविराजों का यह कच्चा चिट्ठा है। एक कुनैन ही क्यों? न जाने कितनी अँगरेज़ी दवायें ये लोग आयुर्वेद के नाम से बेंचते हैं। रोगियों के साथ भी विश्वासघात करते हैं और आयुर्वेद के साथ भी। जिसे कुनैन खानी है वह डॉक्टरों के पास जायगा। एक वैद्य के पास जो रोगी आता है वह यह आशा और विश्वास लेकर आता है कि

मुझे कोई आयुर्वेदिक दवा मिलेगी। कुनैन खाने के लिये वैद्यों के पास कोई नहीं आता। ऐसी दशा में यदि वैद्य लोग भी कुनैन खिलाते हैं तो वे निःसन्देह विश्वासघाती हैं। ऐसे ही लोगों से आयुर्वेद बदनाम हुआ है।

जिस तरह नालायक़ और बेईमान पुलिस के कारण अच्छी से अच्छी सरकार बुरी तरह बदनाम हो जाती है उसी तरह आज धूर्त और अयोग्य वैद्यों के द्वारा आयुर्वेद बदनाम हुआ है। पुलिस, धर्मप्रचारक, और वैद्य लोग प्रजा के धन, धर्म और प्राणों के रक्षक समझे जाते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश भारत में ये तीनों बिगड़े हैं। अनेक बदमाश लोग पुलिस की नौकरी करके प्रजा को सताया करते हैं। चरित्रहीन, भ्रष्ट, व्यभिचारी, लोभी और दाम्भिक पुरुष धर्म के उपदेश फटकार फटकार कर लोगों को मूँड़ते हैं एवं ज्ञानहीन, अयोग्य धूर्त लोग 'राजवैद्य' बनकर प्रजा का विश्वासघात करते हैं और सरकार तमाशा देखती है।

शल्यचिकित्सा से सम्बन्ध रखनेवाली बातें भी आयुर्वेद में कम नहीं हैं। 'सुश्रुतसंहिता' का जन्म इसी के लिये हुआ था। परन्तु आज शल्यचिकित्सा का क्रियात्मक ज्ञान वैद्यों में नहीं है। अन्य शास्त्रों में केवल शाब्दिक ज्ञान से काम चल जाता है, परन्तु आयुर्वेद में जो कुछ है, वह सब क्रियाओं पर परिसमाप्त होता है। यदि रोगी को देखकर रोग का निश्चय करके औषध का निर्णय न कर पाया अथवा जङ्गल की बूटियों को देखकर उनका शास्त्रीय नाम और गुण न समझ पाया या अन्य क्रियाओं में कुशलता न हुई तो आयुर्वेद के हज़ारों श्लोक कण्ठ कर लेने पर भी कोई पुरुष आयुर्वेदज्ञ नहीं कहा सकता। वह कोरा बकवासी है। यदि

कोई आपरेशन न कर सकनेवाला पुरुष तमाम सुश्रुत कण्ठ कर भी जाय और उस पर शास्त्रार्थ भी करता हो तो भी केवल वकवासी और निकम्मा है।

भारतीय शल्यचिकित्सा के विलोप होने या मृतप्राय होने के कई कारण हैं। एक तो यह चिकित्सा विना राज्य की सहायता के कहीं चल नहीं सकती और आयुर्वेद की सहायता सरकार कहाँ तक करती है, यह हम बता चुके हैं। दूसरे जैनधर्म और बौद्धधर्म की अधिकता (या अत्याचार) के कारण लोग यहाँ तक अहिंसावादी बने और रुधिर, मांस से ऐसी घृणा करने लगे कि उसका देखना भी पाप समझा जाने लगा। भोजन के समय मांस आदि का नाम ले देने पर भी 'धर्मात्मा पुरुष' भोजन छोड़-कर भागने लगे। इधर स्मृतियों ने भी गड़बड़ मचाई। चिकित्सक का हव्य, कव्य से बहिष्कार! 'पूयं चिकित्स-कस्याऽन्नं' की फटकार!!

इसका फल यह हुआ कि विद्वानों ने शल्यचिकित्सा ही नहीं, समस्त चिकित्सा-शास्त्र से मुँह मोड़ लिया और आयुर्वेद केवल मूर्खों के हाथ में पड़ गया। जो छात्र न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि शास्त्र पढ़ने के अयोग्य सिद्ध हुए उन मन्द-बुद्धि गोबरगणेशों ने जीविका निर्वाह के लिये आयुर्वेद में धमगज्जर मचाया। परिणाम यह हुआ कि शास्त्र के मर्मज्ञ न रहे। केवल हरड़, बहेड़ा जाननेवाले वैद्य रह गये। यदि कोई बुद्धिमान् छात्र आयुर्वेद पढ़ने गया भी तो उसे ये मूर्ख मार्मिक स्थल न पढ़ा सके। उतना सब ग्रन्थ ही छुड़ा दिया। खाली हरड़ बहेड़ा पढ़ाया। अन्ततः आयुर्वेद के मूल तत्त्वों और आदर्श सिद्धान्तों के ज्ञान से जनता वञ्चित हो गई।

सबसे प्रथम ब्रह्मा ने प्रजापति को आयुर्वेद पढ़ाया। प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को और उन्होंने इन्द्र को पढ़ाया। इन्द्र ने अन्य ऋषियों को पढ़ाया। परन्तु न तो ब्रह्मा ब्राह्मणत्व से खारिज किये गये, न इन्द्र को वेदों से निकाला गया, न अश्विनीकुमारों के नाम की ऋचाएँ वेदों से अलग की गईं, न इन सबका यज्ञभाग (हव्य) ही दूर किया गया, न किसी ऋषि को ही अछूत जाति में शामिल किया गया। यह वज्र-पात हुआ तो हम पर!! 'देवो दुर्बलघातकः' !!!

वेदों में तो उत्तम विद्वान् ब्राह्मणों को ही चिकित्सा का अधिकारी बनाया है—

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः'
(ऋग्वेद १०।८।९७।६)

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि
(ऋग्वेद १०।८।९७।२२)

इस पर भाष्य करते हुए श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—

"यस्मै रुग्णाय ब्राह्मण ओषधिसामर्थ्यज्ञो ब्राह्मणो वैद्यः कृणोति करोति चिकित्सां तं रुग्णं हे राजन् पारयामसि पारयामः"

अर्थात् ओषधियाँ अपने राजा सोम से कहती हैं कि हे राजन् हमारे सामर्थ्य को जाननेवाला प्राज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मण वैद्य जिस रोगी के ऊपर हमारा प्रयोग करता है उसके रोग को हम दूर करती हैं। इस पर कुछ टीका करना व्यर्थ है। वेदों के विरुद्ध—साक्षात् श्रुति के विरुद्ध—स्मृतियों में यह अनर्थ कहाँ से घुस पड़ा, इसका निर्णय

किसी धर्मशास्त्रसम्बन्धी लेख में किया जा सकता है। यहाँ उसके लिये स्थान नहीं। यहाँ तो हम यही कहना चाहते हैं कि साधारण जनता में स्मृतियों का अधिक प्रचार होने के कारण और अर्थ समझकर वेदों का अनुशीलन करनेवालों की संख्या बहुत कम होने के कारण यह अनर्थ दृढमूल होता गया और पाप का भय दिखाकर आयुर्वेद की ओर से विद्वानों का मुँह मोड़ता गया।

इस प्रकार इस निबन्ध में हमने पहले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमप्रमाण दिखाये, आगमप्रमाण का सबसे अधिक महत्त्व दिखाया, उसमें वेदों की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया, वेदविरोधियों के लिये भी वेदों का महत्त्व मानने को बाध्य करनेवाली महर्षि गोतम की (न्यायदर्शन की) युक्ति दिखाई, मन्त्र और आयुर्वेद के कारण वेदों की सत्यता सिद्ध करने का मार्ग दिखाया, वेद और आयुर्वेद की विशेषता बताई, अन्य चिकित्सापद्धतियों के साथ आयुर्वेद की तुलना की, ऋग्वेद में आयुर्वेद के मूल तत्त्वों और प्रधान सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया, आयुर्वेद के विरोधियों की आलोचना की और वर्तमान वैद्यों के कुछ दोष भी दिखाये एवं वेदों में आयुर्वेद के महत्त्व और प्रतिष्ठा-प्रतिपादक प्रमाणों का उल्लेख भी किया।

अब हम कुछ ऐसे वेदमन्त्रों का उद्धरण करना चाहते हैं जिनमें ऐसे रोगों का नाम लेकर चिकित्सा का विधान किया है, जिनके सम्बन्ध में संसार की सब चिकित्सापद्धतियों को अवैज्ञानिक (Unscieintific) कहकर तुच्छ समझनेवाली गरबीली 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' अब तक एकदम ज्ञानशून्य है।

यों तो वेदों में अनेक रोगों के नाम ले लेकर ओषधियों का विधान किया है, परन्तु हम दो ही प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख करेंगे—एक राजयक्ष्मा (Pthisis) सम्बन्धी और दूसरे कीटाणु (Germs) सम्बन्धी। यक्ष्मा के सम्बन्ध में ऐलोपैथी अब तक ज्ञानशून्य है। इसकी दवा का उसे पता नहीं। उसने यक्ष्मा के कीटाणुओं को अजर अमर माना है। वह कहती है कि इन कीटाणुओं को किसी औषध से मारना असम्भव है।

हाँ, कभी कभी एक आवरण (खोल) के भीतर यह कीड़े बन्द पाये गये हैं, परन्तु २०—२० वर्ष तक बन्द रहने पर भी जब कभी क़ैद से बाहर निकलते हैं, जीते ही निकलते हैं और फिर लाखों, करोड़ों बच्चे पैदा करके रोगी पर आक्रमण करते हैं। परन्तु वेदों में यक्ष्मा का वर्णन भी मिलता है। उसके लिये औषधियों का वर्णन भी मिलता है और यक्ष्मा तथा राजयक्ष्मा के नाम पर ऐसा ज़ोरदार चैलेञ्ज भी मिलता है जिसे देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है।

यद्यपि सभी वेदों में आयुर्वेद के सम्बन्ध की बातें मिलती हैं और हिन्दूधर्म के अनुसार सभी वेद ईश्वरीय ज्ञान के भण्डार हैं। परन्तु विलायती लोग ऐसा नहीं मानते। वे सब वेदों को एक समय में उत्पन्न हुआ नहीं मानते और न सबको किसी एक की कृति ही मानते हैं। हाँ, ऋग्वेद को सबसे प्राचीन अवश्य मानते हैं। यह उन्होंने भी स्वीकार किया है कि संसार में इससे प्राचीन पुस्तक कोई नहीं है। अतः हम भी संसार की इस प्राचीनतम (या आदिम) पुस्तक से ही पहले कुछ उदाहरण देना उचित समझते हैं। ऋग्वेद, दशम मण्डल, अष्टम अध्याय, सत्तानवे सूक्त देखिये—अथर्वा ऋषि के पुत्र भिषक् इसके द्रष्टा

(ऋषि) हैं। ओषधियाँ इसकी देवता हैं। अनुष्टुप् छन्द है और यज्ञ में बीमार पड़े हुए यजमान, ऋत्विक् आदि के ऊपर इन ऋचाओं द्वारा अभिमन्त्रित जल छिड़का जाता है। यह तो हुई इनके शब्दों की बात। अब अर्थों पर ध्यान दीजिये। इनमें पहली ऋचा है—

'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च।'

(ऋग्वेद १०।८।९७।१)

'पुरा अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जो ओषधियाँ देवताओं से तीन युग पूर्व उत्पन्न हुई थीं उन 'बभ्रु' ओषधियों के सौ (१००) और सात धाम मैं जानता हूँ।'

यह उक्त ऋचा का सीधासादा अक्षरार्थ है। परन्तु इसका गम्भीर भावार्थ जानने के लिये वेदार्थ समझने की उस प्रक्रिया को फिर एक बार ध्यान में लाइये जिसका उल्लेख हम आरम्भ में ही कर चुके हैं। हमें अनेक मन्त्र यहाँ प्रस्तुत करने हैं अतः सबके ऊपर विस्तृत विचार प्रकट करने का अवसर नहीं है। हम केवल दिग्दर्शन करायेंगे। आगे विचारशील पाठक स्वयं विचार करें।

इस ऋचा के पहले अंश से यह सूचना मिलती है कि पृथ्वी पर पहले स्थावर जगत् की उत्पत्ति हुई है, उसके बाद जङ्गम जगत् की। ओषधि, वनस्पति, वृक्ष आदि की सृष्टि पहले हुई। इसके बहुत दिन (तीन युग) बाद देवता, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणिवर्ग उत्पन्न हुए। इससे प्राणियों के ऊपर होनेवाले ओषधियों के विशेष प्रभाव की सूचना मिलती है।

आयुर्वेद-महत्त्व

विद्यावाचस्पति, श्रीशालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य,
विद्याभूषण, वैद्यभूषण, कविराज-विरचित ।

प्रकाशक,

श्यामसुन्दर शर्मा भिषग्रत्न,
श्रीमृत्युञ्जय-औषधालय,
अमीनाबाद,
लखनऊ ।

सेठ केसरीदास द्वारा नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में मुद्रित
संवत् १९८२ विक्रमीय

प्रथमावृत्ति

दक्षिणा
१)

humour him, they have to bring medicines also, which they do not use at all. Thus thrusting of English medicines on unwilling patients is simply unjust and gives undue prominence to allopathy.

22. If an Englishman or Anglo-Indian puts himself under the treatment of an Indian Vaidya, he has to undertake the risk of being boycotted by his society or even losing his service. Therefore when compelled, such persons—they are very few indeed—secretly take resort to Indian medicines, and at the same time insist on the Vaidya not to disclose the fact to anybody. This state of affairs would never rise, if Government would not attach undue importance to allopathy.

If the Vaidyas are provided with facility to acquaint themselves with surgical branch also, and if the religious minded Indians begin to realize that very few of the foreign medicines are free from alcohol and other impure substances, and if the Indians also learn to adopt the method of socially boycotting those who use foreign medicines, the day will not be far off when the western system will vanish altogether from this sacred land."

After the conclusion of this examination of the weaknesses of the Allopathic system, the learned author proceeds to the description of the three kinds of diseases, three kinds of treatment and three kinds of medicines, in accordance with the Vedic principles. By pointing out the relation of these again with the three worlds and the three gods, a comprehensive

भूगर्भशास्त्र और प्राणिशास्त्र के तत्त्वज्ञ आज यह स्वीकार करते हैं कि पृथ्वी पर वनस्पति की सृष्टि मनुष्य की सृष्टि से पूर्व हुई थी, परन्तु कितने दिन पूर्व हुई थी, इसका ठीक ठीक पता नहीं दे सकते। दें भी कहाँ से? अपने जन्म से पहले की बात का ठीक ठीक पता कौन दे सकता है? जब मनुष्यजाति की संसार में सत्ता ही नहीं थी उस समय की बात कोई मनुष्य कहाँ से बतायेगा? तर्क से, अनुमान से या सुनी सुनाई बातों से जो पता लगा होगा उतना ही तो बतायेगा। उस समय की ठीक ठीक बात या तो ईश्वरीय ज्ञान में रह सकती है या फिर आर्ष ज्ञान और योगज प्रत्यक्ष से सम्पन्न महर्षियों के ज्ञान में। वेद ने बताया है कि प्राणिसृष्टि से तीन युग पहले वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। परन्तु यह बात न प्रत्यक्ष से जानी जा सकती है न अनुमान से। इसीलिये तो कहते हैं कि—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते
तमर्थं वेद वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता'

'बभ्रु' शब्द से इन ओषधियों का रङ्ग और प्रभाव (तेजोमयत्व) सूचित किया है। आयुर्वेद में इनके अपूर्व चमत्कारक प्रभाव का वर्णन है। इसके आगे ओषधियों की शक्तियों और उनका प्रभाव पड़ने के स्थानों की ओर सङ्केत है। 'धाम' शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे तेज, प्रभाव, स्थान, जन्म और नाम आदि। 'शत' शब्द अनेक का वाचक है। प्रत्येक ओषधि के अनेक (सैकड़ों) प्रभाव ('धाम') हैं ('अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः' यह लोकोक्ति इसी आधार पर चली है) और ओषधियाँ जहाँ जहाँ अपना प्रभाव दिखाती हैं वे 'धाम' (स्थान) सात हैं। कौन? 'रसाऽसृङ्मांसमेदोऽस्थि

मज्जाशुक्राणि धातवः।' प्राणी के शरीर में सात ही वस्तुएँ हैं जो दूषित हो सकती हैं और ओषधियों के प्रभाव से उनका दोष दूर होने पर आरोग्य प्राप्त होता है। १ रस या त्वचा, २ रुधिर, ३ मांस, ४ चर्बी, ५ हड्डी, ६ मज्जा (हड्डी की मींग) और ७ वीर्य। रोग पैदा होने के ये ही सात धाम हैं और ओषधियों के प्रभाव के भी ये ही सात धाम (स्थान) हैं। तात्पर्य यह है कि कुछ ओषधियाँ ऐसी हैं जिनका सीधा प्रभाव रस या रुधिर पर पड़ता है, कुछ का वीर्य या हड्डियों पर, कुछ का इन्हीं सात में से और किसी जगह।

इस प्रकार कई ऋचाओं में ओषधियों का वर्णन करने के अनन्तर इस सूक्त में वैद्य का वर्णन भी किया है। देखिये—

'यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः'

(ऋग्वेद १०।८।९७।७)

जिसकी बुद्धि में ओषधियों का समागम उसी प्रकार होता है, जैसे राजा लोगों का समागम किसी एक सभा में होता है, उस ब्राह्मण को 'भिषक्' (वैद्य) कहते हैं। यह विप्र 'रक्षस्' का हनन करता है और 'अमीव' का 'चातन' करता है।

यह तो हुआ अक्षरार्थ। अब भावार्थ देखिये। इस ऋचा में 'राजानः' बहुवचन है और 'समितौ' एकवचन है, यह किसी राजा की ऐसी सभा नहीं है जिसमें एक राजा हो और अन्य सब उसके अनुयायी हों, बल्कि यह ऐसी सभा है जिसके सब सदस्य राजा हैं। अपना अपना कार्य करने में अलग अलग सब स्वतन्त्र हैं। जहाँ ये सब राजा लोग इकट्ठे हुए हैं वह 'समिति' है। सब समान रूप से इसमें

सम्मिलित हुए हैं। छोटे बड़े का विचार छोड़कर इकट्ठे हुए हैं। यहाँ कोई किसी पर धौंस या बड़प्पन की छाप नहीं जमाता है। यहाँ सब 'समित' हैं। किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये 'समान-सम्मति' या 'ऐकमत्य' करने के लिये समान रूप से इकट्ठे हुए हैं। ऐसा कब होता है? जब किसी प्रबल शत्रु का सामना करना होता है तब कई राजा लोग—जो परस्पर मित्र हैं—किसी सभा में मिलकर बैठते हैं और उस दुर्दम शत्रु के दमन का उपाय सोचते हैं। विद्वान् ब्राह्मण वैद्य की बुद्धि ही एक प्रकार की सभा है। इसमें कई ओषधियाँ जो परस्पर मित्र हैं—परस्पर विरुद्ध प्रभाव करनेवाली नहीं हैं—अर्थात् ऐसी नहीं हैं कि जिनके मिलने से कोई घातक विष पैदा हो जाय—वे उपस्थित होती हैं और जैसे राजा लोग उस सभा के सामने जहाँ उन्हें अपने सच्चे मित्रों के साथ मिलकर किसी दुर्दम शत्रु के दमन के लिये विचार करना है अपनी अपनी धनशक्ति, सेनाशक्ति और बुद्धिशक्ति आदि का सच्चा सच्चा वर्णन करते हैं उसी प्रकार ओषधियाँ भी सच्चे वैद्य की बुद्धि के आगे अपनी अपनी सब शक्तियों (रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभावों) को यथावत् प्रकट करती हैं। इसके बाद वैद्य क्या करता है? वह राक्षसों का हनन करता है और 'अमीव' का 'चातन' करता है। वेदों में आगन्तुक व्याधि को उत्पन्न करनेवाले कीटाणुओं तथा भूत, प्रेत आदिकों को 'रक्षस्' कहते हैं। वैद्य ओषधियों की शक्ति को जानने के बाद उससे उन्हीं राक्षसों का हनन करता है और मनुष्य के प्राण लेनेवाले इन दुष्टों को मारकर आनेवाले रोग से उसकी रक्षा करता है। जो रोग शरीर में उत्पन्न हो गया है उसे 'अमीव' कहते

हैं। वैद्य उसका 'चातन' (शमन) करता है। रोग रोगी से अलग नहीं है अतः रोग का 'हनन' करने से रोगी का भी हनन हो जाने की आशङ्का रहती है इस कारण रोग का शमन (हनन नहीं) और राक्षसों का निर्दयतापूर्वक 'हनन' वैद्य को करना चाहिये। यही इस ऋचा का स्थूल भावार्थ है। 'चातन' शब्द 'चायृ' धातु से बना है। इसका अर्थ है शमन करना।

इसके आगे इसी सूक्त में कुछ ओषधियों के नाम भी गिनाये हैं—

'अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये'
(ऋग्वेद १०।८।९७।७)

अश्वावती, सोमावती, ऊर्जयन्ती और उदोजस् ये चारों पूर्वोक्त 'वभ्रु' गुणवाली प्रधान ओषधियाँ हैं। इनसे अरिष्ट (रोग या मृत्यु) दूर होता है। कौन सा अरिष्ट दूर होता है, इसका वर्णन आगे सुनिये—

'यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ।'
(ऋग्वेद १०।८।९७।११)

वही विद्वान् ब्राह्मण वैद्य कहता है कि जब मैं इन ओषधियों को हाथ में लेता हूँ और रोगी को बल पहुँचाता हूँ तब 'यक्ष्म' (क्षय) रोग का आत्मा उसी तरह नष्ट होने लगता है जैसे चिड़ीमार के हाथ में पड़ने पर चिड़िया का दम घुटने लगता है या यमराज के हाथ में पड़कर प्राणी तड़फड़ाने लगता है।

'क्षय' शब्द का अर्थ है क्षीणता । यक्ष्मा या क्षय का रोगी दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगता है । यदि उसका बल बढ़ने लगे तो निःसन्देह वह आरोग्य प्राप्त कर सकता है । यक्ष्मारोग को दूर करने का मूल सिद्धान्त ही यह है कि रोगी का बल बढ़ाया जाय । इसी काम में संसार की समस्त चिकित्सापद्धतियाँ व्यर्थ होती हैं । हज़ार कोशिश करने पर भी वे रोगी का बल नहीं बढ़ा सकतीं । बढ़ाना तो दूर रहा, वे रोगी के बल को घटने से भी नहीं रोक सकतीं । उसी असाध्य रोग की ओषधि संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक में लिखी है । यह वही पुस्तक है जिसे विलायती लिक्खाड़ 'असभ्य जंगली गड़रियों के गीत' बताया करते हैं ।

क्षयरोग पर इन ओषधियों का कितना प्रबल प्रभाव होता है इसके लिये वेद के बताये दृष्टान्त पर ध्यान दीजिये । इससे अच्छा दृष्टान्त भी शायद ही कहीं मिले । चिड़ीमार के आगे चिड़िया का जो बल है और यमराज के आगे मरते हुए प्राणी का जितना बल है उतना ही बल इन ओषधियों के आगे राजरोग यक्ष्मा का है । यह सम्पूर्ण सूक्त इसी प्रकार की ऋचाओं से भरा है । अन्यत्र भी इसकी चर्चा है । हम ऋग्वेद की दो चार ऋचायें और देकर आगे बढ़ेंगे—

साकं यक्ष्म प्रपतत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ।'
(ऋ० १०।८।९७।१३)

'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते ॥१॥'

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते ॥ २ ॥
अन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोर्हृदयादधि ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो विवृहामि ते ॥ ३ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं श्रोणिभ्यां भासदाद्भंससो विवृहामि ते ॥ ४ ॥
मेहनाद्वनंकरणाल्लोमभ्यस्ते नखेभ्यः ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥ ५ ॥
अङ्गादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥ ६ ॥
(ऋक् १०।१२।१६३)

ये सब एक ही सूक्त की ऋचायें हैं। इनमें यक्ष्मा को भगाने की विधि है और धीरे धीरे यक्ष्मा किस तरह रोम रोम में व्याप्त होता है, इसका मार्मिक वर्णन है। आँख, नाक, कान, सिर, मस्तिष्क (दिमाग), जीभ, गरदन, छाती, हृदय, कन्धे, हाथ, आँतें, जिगर, तिल्ली, पाखाना, पेशाब, हड्डी, वीर्य आदि में किस किस प्रकार राजयक्ष्मा घर करता है इसकी चर्चा है और सब जगहों से उसे मार भगाने का उपदेश है।

ऐलोपैथी का सिद्धान्त है कि विशेष प्रकार के कीड़े राजयक्ष्मा के कारण हैं। वे सर्वत्र आकाश में करोड़ों की संख्या में घूमा करते हैं। कोई भी मनुष्य इनके आक्रमण से बच नहीं सकता। परन्तु जिसकी प्रकृति इतनी प्रबल है कि उन्हें मार भगाये—उनका पैर न जमने दे—उस पुरुष का कुछ नहीं बिगड़ता, और जहाँ ये जम जाते हैं वहीं राजयक्ष्मा नामक रोग उत्पन्न होता है। इस मत के

विरुद्ध युक्तियाँ हम दिखा चुके हैं। वेदों में यह बात इस रूप में नहीं मानी जाती। वेदों का मत है कि मनुष्य के शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न होता है। उसी विष के कारण कीड़ों को जमने का अवसर मिलता है। कीड़ों ने रोग नहीं उत्पन्न किया, अपितु रोग का मूल (प्रकृति की दुर्बलता और विष) शरीर में उत्पन्न होने के बाद कीड़े वहाँ रहने पाये।

जैसे किसी जगह चिपकता हुआ गुड़ देखकर मक्खियाँ टूट पड़ती हैं और सिरके की गन्ध पाकर भुनगे दौड़ते हैं, इसी प्रकार शरीर में कोई विष किसी प्रकार के कीड़ों का आह्वान करता है। हरएक विष हरएक प्रकार के कीड़ों के रहने के लिये उपयुक्त नहीं है। यह भी संभव है कि किसी रोगी में केवल विष ही हो और कीड़े किसी कारण वहाँ न हों। पश्चिमी वैज्ञानिक लोग बढ़े हुए रोग में कीड़ों को देखकर उन्हीं को रोग का कारण समझते हैं। कीड़े क्यों आते हैं, इसका अनुसन्धान साइन्स ने अब तक नहीं कर पाया है। वेदों में यह एक प्रकार का विष माना है—देखिये—

"आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १० ॥
उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ११ ॥
(अथर्व ६ । ४ । १३)
ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १६ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्" ॥ २० ॥
(अथर्व ६ । ४)

पहले मन्त्र में 'बलास' अर्थात् रोगी के थूक या कफ और मूत्र में से यक्ष्मा का विष दूर करने की बात है। दू में उदर, क्लोम, नाभि और हृदय के अधिष्ठान—'हृदया अधि'—(छाती) से यक्ष्मा के विष को हटाने की बात है तीसरे और चौथे में सब अङ्गों के विष की चर्चा है

हमारे एक मित्र ने बताया कि वह एक बार लखनऊ के मेडिकल कॉलेज में किसी ऐसे आसन्नमृत्यु रोगी को देखने गये जिसमें यक्ष्मा के सब लक्षण प्रत्यक्ष थे। यक्ष्मा के विशेषज्ञ (Specialist) एक अँगरेज़ सज्जन उसका इलाज कर रहे थे। परन्तु उस समय तक उसके शरीर में यक्ष्मा के कीड़ों (T.B.) का कहीं पता न था। रोगी की मृत्यु के समय उक्त डॉक्टर साहब ने अपने छात्रों को उपदेश देते हुए बताया कि "यह एक ऐसा विचित्र रोगी है जिसमें यक्ष्मा के सब लक्षण मिलने पर भी उसके कीड़े नहीं पाये जाते। इससे यह परिणाम निकलता है कि वह यक्ष्मा और भी भयानक होता है, जिसमें अन्त तक कीड़े न मिलें।"

संभव है, डॉक्टर साहब की बुद्धि में वही परिणाम निकलता हो, परन्तु हम तो समझते हैं कि यदि एक भी रोगी ऐसा मिला है, तो निःसन्देह उसने अपने उदाहरण से ऐलोपैथी के कीटाणु-सिद्धान्त को ही तिलाञ्जलि दे डाली। जब यह सिद्धान्त मान लिया कि कीड़े ही रोग का कारण हैं, तो फिर बिना उनके रोग हुआ ही कैसे? या तो उस रोग को यक्ष्मा न मानिये, या फिर कीटाणु-सिद्धान्त का श्राद्ध कीजिये। दोनों हाथ लड्डू नहीं मिल सकते। यदि वैदिक सिद्धान्त की शरण में आइये, तो आपको इसका ऐसा उत्तर मिलेगा जिससे आपके हृदय को भी शान्ति

प्राप्त हो। वहाँ यक्ष्मा का एक विष बताया है और उसके कारण कीड़ों का आना एवं उसे खा खा कर उनका फलना फूलना भी बताया है। परन्तु उक्त रोगी के शरीर का विष इतना घातक और इतना संहारक था कि कीड़े भी उसे अपनी मौत समझकर उससे भागने लगे। पहले तो वहाँ जमे ही नहीं और जमे भी तो जिये नहीं। इसी कारण डॉक्टर साहबान को अन्त तक उसके थूक या रुधिर में कीड़े नहीं दिखाई पड़े। परन्तु अन्य सब लक्षण अत्यन्त स्पष्ट दीखे। इतने स्पष्ट कि उसे कोई दूसरा रोग कहने की हिम्मत न हुई।

आज वैज्ञानिकों ने भी यह देखा है कि राजयक्ष्मा के कीड़े (T. B.) कुछ दिन एक जगह रहने के बाद फिर वहाँ से हटने लगते हैं। जो नहीं हटते वे मरने लगते हैं। परन्तु वे वहाँ क्यों मरने लगते हैं, इसका ठीक ठीक अनुसन्धान अभी साइन्स नहीं कर पाई है। वैज्ञानिकों का ख़याल है कि शायद कीड़ों का मल (पाख़ाना आदि) वहाँ इतना इकट्ठा हो जाता है कि उससे वे मरने लगते हैं।

वैदिक सिद्धान्त के अनुसार मिथ्या आहार विहार और अदृष्ट के कारण रोग (यक्ष्मा) का विष शरीर में पहले पैदा होता है, कीड़े उसके बाद वहाँ पहुँचते हैं। वह विष उन्हें अनुकूल अवश्य है, परन्तु उसके साथ अन्य भोजन भी आवश्यक है। संसार में जितने विष खानेवाले हैं, सबको कुछ न कुछ पौष्टिक भोजन आवश्यक होता है। शराब पीनेवाले को थोड़ा बहुत मांस चाहिये, अफ़ीम खानेवाले को दूध मलाई चाहिये, संखिया खानेवाले को घी चाहिये और भाँग पीनेवाले को रबड़ी चाहिये। यदि किसी संखिया या शराब के व्यसनी को केवल संखिया या शराब ही

खिलाई पिलाई जाय अथवा उसके समस्त भोजन—दाल, भात, रोटी, मांस, पानी आदि—में संखिया और शराब मिला दी जाया करे तो निःसन्देह वह थोड़े ही दिनों में मर जायगा।

जो दशा सब प्राणियों की है वही इन कीड़ों की भी है। इन्हें राजयक्ष्मा के विष के साथ कुछ अच्छा मांस भी खाने को चाहिये। जब किसी जगह (रोगी की छाती में) यक्ष्मा के विष की अत्यन्त अधिकता हो जाती है और अच्छा मांस बिलकुल नहीं रहता, तो यक्ष्मा के कीड़े उस स्थान को छोड़कर अच्छे मांस की ओर दौड़ते हैं। जो नहीं हटते वे वहीं विष खाकर अच्छे भोजन के अभाव के कारण मरते हैं। बहुत से रोगी ऐसे भी होते हैं जिनके शरीर में यह विष अत्यन्त उग्र कोटि का होता है। उनके शरीर में या तो कीड़े जाते नहीं और यदि जाते हैं तो जीते नहीं। ऐसे रोगियों के शरीर में अन्त्य समय तक पश्चिमी वैज्ञानिकों को कीड़े नहीं मिल सकते। यदि युक्ति और प्रमाणों के आधार पर विवेचना की जाय, तो वैदिक सिद्धान्त सत्य सिद्ध होते हैं और पश्चिमी साइन्स मिथ्या और अपूर्ण जँचती है।

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् ॥ सर्वं० २ ॥
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः ॥ सर्वं० ३ ॥
यः कृणोति प्रमोतमन्धं करोति पूरुषम् ॥ सर्वं० ४ ॥
अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥
यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्।

divine system of treatment has thus elaborately been visualized at the end of the book.

With the hope that this timely and able defence of the Ayurveda may have widest publicity and fair hearing, which it certainly deserves by virtue of the profound knowledge of the ancient medicinal Shastras displayed and the learned manner of treatment, it has been thought expedient to attach this short introduction in English, containing an outline of some of the main topics dealt with in this book for the benefit of those who do not know Hindi well.

While we are not altogether unaware of the slight efforts that are being made by the Government and the public to popularise the indigenous system of medicines, we feel that much still remains to be done. We hope that this book will go a long way towards reinstating the Ayurveda to its former supremacy and glory. It is for this reason that we commend it heartily to the enlightened public for careful perusal and consideration.

LUCKNOW UNIVERSITY, *4th March 1926.* } ADYA DATTA THAKUR, DAYA SHANKAR DUBEY.

तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥
य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके ।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥
(अथर्व ९ । ४ । १३)

पहले मन्त्र में यह बताया है कि यक्ष्मा में सिर के रोग भी पैदा हो जाते हैं। कान में दर्द भी होता है। कान पक भी जाता है और उसमें से खून, पीव आने लगता है। दूसरे और तीसरे मन्त्र में यह बताया है कि यक्ष्मा के कारण कान से और मुँह से पीव आता है। हमने राजयक्ष्मा के ऐसे कई रोगी देखे हैं जिनके कान में से पीव आने लगा था। कान में दर्द भी हुआ था। चौथे मन्त्र में यह कहा गया है कि यक्ष्मा के कारण रोगी अन्धा भी हो जाता है। पाँचवें में अङ्गभेद, ज्वर, सर्वाङ्गगत व्याधि और शिरोरोग की चर्चा है।

छठे मन्त्र में यह बताया है कि जिस यक्ष्मा का रोगी के सिर में विशेष प्रभाव पड़ता है, उससे रोगी को भयानक मूर्तियाँ दीखती हैं जिससे वह काँपने लगता है। हमें इसका विशेष अनुभव है। यक्ष्मा के एक रोगी को बहुत हलकी सी मूर्च्छा होती थी। अपने घर के मरे हुए पुरुषों का नाम ले ले कर चिल्लाता और काँपता था। यह मालूम होता था कि रोगी को वे खींच रहे हैं एवं उनके साथ रोगी का झगड़ा हो रहा है। कई अँगरेज़ सिविल-सर्जनों—कर्नल और मेजरों—ने भी उसे देखा था, परन्तु कोई ठीक राय नहीं क़ायम कर सके। किसी ने उस पुरुष को हिस्टीरिया के फ़िट बताये, किसी ने कुछ और अंट संट कहा। परन्तु इसके असली कारण का ठीक ठीक पता इन 'गडरियों के गीतों' में मिलता है। सातवें मन्त्र में वृक

(किडनी या गुर्दों) से वस्ति (मूत्राशय=ब्लैडर) को जाने-वाली दो नाड़ियों (गवीनिकाओं) में होनेवाले यक्ष्मा के प्रभाव का वर्णन है।

आयुर्वेद में 'यक्ष्म' शब्द दोष, रोग, और रोगविशेष (क्षय) के लिये प्रयुक्त होता है। चरक में लिखा है—

"दोषा ह्यपि रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृति-शब्दं विकारशब्दं च लभन्ते। व्याधयश्च रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दं च लभन्ते" (चरक, विमा० ६ अ०)

राजयक्ष्मा शब्द रोग विशेष (तपेदिक़) के लिये ही प्रयुक्त होता है। वेदों में यक्ष्मा और राजयक्ष्मा इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। देखिये—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजक्ष्मात्
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम्'
(अथर्व ३। ११। १)

और देखिये—

'इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुपप्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना' (अथर्व ३।१२। ९)

इस मन्त्र में यक्ष्मा के रोगी के लिये मकान, जल और अग्नि की विशेष व्यवस्था की गई है। नीचे लिखे मन्त्रों में स्पष्ट सूर्य की किरणों और शुद्ध वायु की आवश्यकता बताई गई है—इन दोनों को मृत्यु (रोग) नाशक बताया है। देखिये—

'माते प्राण उपदसन्मो अपानोपिधायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः'(अथर्व५।३०।१५)

'व्यार्त्या पवमानो विशक्रः पापकृत्यया ।
व्य १हं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुषा' (अथर्व ३।३१।२)

नीचे लिखे मन्त्र में यक्ष्मा के रोगी को ऐसे स्थान में रहने की आज्ञा दी है जहाँ सील (Damp) न हो, गरमी हो, और सूर्य का प्रकाश आता हो । अँधेरे मकान को ऐसे रोगी के लिये 'मृत्यु' कहा है । देखिये—

'अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित्तमसस्परि'(अथर्व ५।३०।११)

निम्नलिखित मन्त्र में रोगी को 'भूमिगृह' (तहखाना या सबसे नीची मंज़िल, जो पृथ्वी से मिली हो) में रहने का निषेध किया है एवं शुद्ध वायु और सूखे मकान की आवश्यकता बताई है—

'प्राणेनाऽग्ने चक्षुषा संसृजेमं समीरय तन्वा सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मानुगान्मानुभूमिगृहो भुवत्'' (अथर्व ५।३०।१४)

इस प्रकार रोगी के रहन सहन, अन्न जल और औषध की व्यवस्था करके अथर्व वेद ने राजयक्ष्मा के रोगी को आश्वासन और धैर्य भी दिया है । देखिये—

'मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ' ॥ ८ ॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचासाढः परस्तराम्' ॥ ९ ॥
(अथर्व ५ । ३०)

अर्थात् 'हे रोगी तू मत डर, तू मरेगा नहीं, मैं तेरे शरीर से समस्त यक्ष्मारोग को दूर करता हूँ, तेरे ज्वर को दूर करता हूँ, और तुझे परिपुष्ट करता हूँ ॥८॥ तेरे अङ्गों के दर्द, दुर्बलता और ज्वर को, हृदय तथा छाती के रोगों को—

जो तेरे ऊपर श्येन (बाज़) की तरह झपटे हैं—अभी मार भगाता हूँ। 'हृदय' शब्द इस मन्त्र में हृदयाधिष्ठान (छाती) का उपलक्षण है। हृदय और उसके आसपास के अङ्ग फुफ्फुस आदि जो छाती के भीतर रहते हैं उन सबका 'हृदय' शब्द से बोध होता है। राजयक्ष्मा के रोगी का हृदय भी आक्रान्त होता है और उसके आसपास के अन्य अङ्ग भी रोग से आक्रान्त होते हैं ॥ ६ ॥

जो रोग माता पिता के शरीर से बच्चे में आया हो उसे 'क्षेत्रिय' व्याधि कहते हैं। साधारणतया यह असाध्य समझा जाता है। 'क्षेत्रियः परक्षेत्रे चिकित्स्यः' की बात प्रसिद्ध है। परन्तु अथर्ववेद में इस प्रकार के राजयक्ष्मा को दूर करने की बात भी लिखी है। देखिये—

'तासु त्वाऽन्तर्जरस्यादधामि
प्रयक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवाऽहं त्वा क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद्
द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्' ॥ ५ ॥
"अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद्
द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः" ॥ ६ ॥(अथर्व २।१०)

इसका उदाहरण हम आगे देंगे। और सुनिये—

'वि देवाजरसाऽवृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥
वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णया सरन्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥
वी३ मे द्यावापृथिवी इतो विपन्थानो दिशं दिशम्।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीदं विश्वं भुवनं वियाति ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥
अग्निः प्राणान् सन्दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥
प्राणेन विश्वतो वीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥
आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥
प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥
उदायुषा समा युषोदोषधीनां रसेन ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्था मा मृता वयम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥
(अथर्व ३।३०)

यों तो यज्ञोपवीत के अनन्तर ब्रह्मचारी के आयुष्य के लिये आचार्य इस सूक्त के द्वारा प्रार्थना करता है। यह इसके शब्दों की शक्ति का विनियोग है, परन्तु अर्थ पर ध्यान दीजिये तो पता चलेगा कि यक्ष्मा को दूर करनेवाली सामग्री इसमें अत्यन्त कौशल के साथ एकत्रित की गई है। पृथिवी, आकाश, वायु, इन्द्र, बकरी आदि ग्राम्य पशु, जङ्गली जीव, प्रातःकाल की वायु का सेवन, अग्नि, चन्द्रमा, अग्निहोत्र, प्राणायाम, सूर्य की किरणें, और ओषधियों का रस आदि सब कुछ रोगहारी वस्तुएँ संगृहीत कर दी हैं।

शायद कोई कहने लगे कि वेद तो धर्म-पुस्तक हैं। उनमें

धर्म की ही बातें होनी चाहिये। पाप, पुण्य और परलोक की बातें होनी चाहिये। इन बातों से उनसे क्या मतलब? रोगी, रोग, उपचार, औषध और चिकित्साविधि से वेदों का क्या सम्बन्ध?

इस पर हमारा निवेदन है कि हिन्दुओं का धर्म एक अत्यन्त व्यापक वस्तु है। विलायती धर्म की तरह गिर्जे के अन्दर बन्द होनेवाली चीज़ नहीं है। विलायत में राज-नीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता, परन्तु हिन्दूधर्म का सम्बन्ध तो आत्मा के साथ है। यह तो जीवन भर मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता बल्कि मरने के अनन्तर भी साथ रहता है। यहाँ तो राजनीति, समाज-नीति, अर्थनीति आदि जितनी नीतियाँ हैं सब धर्म के ही अन्तर्गत हैं। चारो वर्णों, चारो आश्रमों के जितने कर्तव्य हैं सब धर्म के एक कोने में समा जाते हैं। विलायती पोप मरते समय स्वर्ग के लिये सिर्फ़ चिट्ठी लिख देता है, परन्तु हिन्दुस्तानी 'पोप' (पुजारी) प्रतिदिन तुलसीदल देते समय रोग दूर करने का रास्ता और अकाल मृत्यु से बचने का उपाय बताया करता है। जर्मनी के वैज्ञानिकों को आज मालूम हुआ है कि तुलसी से बढ़कर कीटाणुओं का नाशक (Jerms Killer) दूसरा नहीं है। उन्होंने आज यह देखा है कि तुलसी के पौदे के पास मलेरिया के कीटाणु नहीं फटकते और राजयक्ष्मा के कीटाणु भी इससे डरते हैं, परन्तु हिन्दुस्तानी 'पोप' हज़ारों वर्ष से तुलसीदल मिला जल (चरणामृत) देते समय यह कहता आ रहा है कि—

"अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।"

तुलसीदल से सब बीमारियों का विनाश और अकाल-

मृत्यु का हरण वह बराबर बताया करता है। परन्तु उसकी यह 'अनसाइन्टिफ़िक'बात सुनता कौन है? जिन्हें विलायती बिजली के सहारे हिन्दुस्तान के सूर्य को देखने का चस्का पड़ा है उनके कान इस 'पोप लीला' की ओर लगते ही नहीं।

एक बात और है। आस्तिकों का ईश्वर आजकल के नास्तिकों से अधिक बुद्धिमान् है। वह पहले ही जानता था कि केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण माननेवाले कोरे तार्किक अदृष्ट की बातों का अवश्य मज़ाक़ उड़ायेंगे। इसलिये उसने कुछ ऐसी चमत्कारक बातों का भी सन्निवेश वेदों में कर दिया जिससे प्रत्यक्षवादी लोग हक्के बक्के रह जायँ। महर्षि गोतम ने अपनी दिव्य दृष्टि से ईश्वर के इस अभिप्राय को देखा और अपने न्यायसूत्र में इसका उल्लेख किया कि 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।' इस सन्दर्भ के उपक्रम में ही हम इसकी विवेचना कर चुके हैं।

हाँ, यह हम मानते हैं कि वेदों का प्रधान वर्णनीय विषय यह नहीं है। यही कारण है कि एक बात के समर्थन के लिये हमें कई कई जगह से बिखरी हुई ऋचाओं को एकत्रित करना पड़ा है। 'आयुर्वेद' का ही यह प्रधानतया वर्णनीय विषय है। यदि भारत की रत्नगर्भा वसुन्धरा में ढूँढ़ने पर कहीं उपवेदों का पता चल जाय और 'आयुर्वेद' का कुछ अंश निकल आये तो निःसन्देह उसमें इन विषयों का विस्तृत, विशद, गम्भीर, चमत्कारक और क्रमबद्ध वर्णन मिल सकता है। परन्तु यह हो कैसे? ढूँढ़े कौन? सरकार के ख़ज़ाने में तो ऐसे कामों का नाम लेते ही 'चूहे डण्ड पेलने' लगते हैं।

विलायती शिक्षा, दीक्षा में निष्णात चुलबुले चौचन्द बछेड़े यहाँ एक चुटकी लिये बिना न मानेंगे। वे यह बात

अवश्य कहेंगे कि वेद तो 'भानमती का पिटारा' हैं। जो जी चाहे उनमें से निकाल लीजिये। स्वामी दयानन्दजी ने ही बहुत सी चीज़ें वेदों में से निकालकर दिखा दीं। पर दिखाईं वही चीज़ें जो उनके समय तक पाश्चात्य जगत् ने आविष्कृत कर दी थीं। जैसे रेल, तार आदि। और तो और 'धातारम, कर्तारम्' की तरह सिद्ध होनेवाले 'तरुतारम्' से स्वामीजी ने वेदों में 'तार' (wire) दिखाने का दुःसाहस किया। सम्भव था, यदि उनके समय तक बम्बई की खाँड़ (विलायती खाँड़) चल गई होती तो वे 'इष्णन्निषाण, मुम्मयिषाण' से मुम्बई की खाँड़ भी निकाल देते। यदि हिन्दू-मुसलमानों के मेल का प्रश्न उनके सामने उपस्थित हुआ होता तो सम्भव था कि वे 'शतमदीनाः स्याम शरदः' के बल पर वेदों में से मक्का-मदीना निकालने की भी चेष्टा करते। परन्तु आज तक ऐसा कोई माई का लाल न मिला जो ऐसी भी वस्तुएँ वेद में दिखाये जिन्हें अब तक साइन्स ने नहीं निकाला है। यदि स्वामीजी टेलिफ़ोन और बाइस्कोप भी वेद में से निकाल देते तो हम भी जानते। या फिर जैसे रेल, तार की गढ़न्त की थी वैसे ही कुछ बनाकर भी दिखा जाते। जब तक कोई प्रत्यक्ष बात न हो तब तक कोरी बकवास से कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। वेदों की सत्यता तभी है जब उनकी बात प्रत्यक्ष से सिद्ध हो। अन्यथा वह सब कपोलकल्पना, मिथ्या गढ़न्त और कोरी बकवास के सिवा और कुछ नहीं।

हम यह नहीं चाहते थे कि इस लेख में कोई ऐसी बात आये, जिसका सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व से हो। वस्तुतः हम इसमें हृदय से लज्जित होते हैं। परन्तु उक्त प्रश्न को टाल

देना हमारी शक्ति के बाहर है और अपने अनुभव किये हुए प्रयोगों का उदाहरण दिये बिना उद्धार का कोई मार्ग नहीं है। अतः हम कुछ ऐसे राजयक्ष्मा के रोगियों का वृत्तान्त दिखाने के लिये विवश हैं, जो अन्य चिकित्साओं से निराश होने पर भी आयुर्वेदिक चिकित्सा के द्वारा आरोग्य लाभ कर चुके हैं। हमने अपने अनेक श्रद्धेय मित्रों के अत्यन्त अनुरोध और आग्रह से कुछ दृष्टान्त प्रकाशित करने का निश्चय किया है। आशा है, मनस्वी पाठक हमारी विवशता पर ध्यान देकर क्षमा करेंगे।

पिछले दिनों ता० १४-१२-२२ को यू० पी० के गवर्नर की कौन्सिल में जब यह प्रस्ताव उपस्थित हुआ कि सरकार आयुर्वेद की कुछ सहायता करे तो सरकार की ओर से मेजर रणजीतसिंह साहब ने प्रस्ताव का विरोध किया। उस समय कटियारी राज्य के मैनेजर रायबहादुर श्रीयुत ठाकुर मशालसिंहजी भी कौन्सिल में उपस्थित थे। आपने सरकारी विरोध का जो उत्तर दिया था उसका कुछ अंश आगे दिया जायगा। उन दिनों ठाकुर साहब की धर्मपत्नी बीमार थीं। कई बड़े बड़े सिविलसर्जन डॉक्टरों ने गर्भाशय में फोड़ा और नासूर बताया था। पीब और खून अधिक मात्रा में आता था। जब कभी बन्द हो जाता था तो शरीर पर लाल लाल चकत्ते पड़ने लगते थे और ज्वर बढ़ जाता था। और भी कई शिकायतें थीं। डॉक्टरों की राय में आपरेशन के सिवा और कोई उपाय न था, परन्तु रोगी की दुर्बलता के कारण किसी की हिम्मत न पड़ी कि छुरी चलाये। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि क्लोरोफ़ार्म करते ही रोगी का प्राणान्त हो जायगा। यह भी कहा कि

आपरेशन न करने पर भी प्राणान्त अवश्य होगा, परन्तु कुछ हफ़्तों में । इसके अनन्तर हमें देखने का अवसर मिला और ईश्वर की दया से दो तीन महीने की आयुर्वेदिक चिकित्सा से वे बहुत कुछ ठीक हो गईं। अब तो कई वर्षों से विल्कुल अच्छी हैं । उन्हीं की चर्चा ठाकुर साहब ने अपने व्याख्यान में की है । यद्यपि और भी कौन्सिल के अनेक हिन्दुस्तानी मेम्बर वहाँ उपस्थित थे, परन्तु केवल ठाकुर साहब तथा एक अन्य सज्जन ने वीर क्षत्रिय की भाँति सरकार का विरोध करके आयुर्वेद का पक्ष समर्थन किया । इसका कारण यह है कि ठाकुर साहब स्वयं आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता हैं । आपके यहाँ कई पीढ़ी से आयुर्वेदिक औषध धर्मार्थ वाँटे जाते हैं । नाड़ी की भी आपको अच्छी परीक्षा है । आपके उद्योग का परिणाम यह हुआ कि अन्य बहुत से मेम्बरों की बुद्धि ने भी पलटा खाया। फलतः सरकार हार गई और उसे विवश होकर डिस्ट्रिक्टबोर्डों और म्यूनिसिपलबोर्डों में आयुर्वेद का कुछ प्रचार करना पड़ा । समस्त आयुर्वेदप्रेमियों की ओर से श्रीमान् ठाकुर साहब धन्यवाद के पात्र हैं—

जिस लड़के के क्षिप्रकारी राजयक्ष्मा (Galloping Consumption) का ज़िकिर ठाकुर साहब ने किया है उसकी चिकित्सा हुए ६—७ वर्ष हो चुके । रोग की फिर कोई शिकायत नहीं हुई । इस समय वह एम्० ए० में पढ़ता है और उसके दो विवाह भी हो चुके हैं ।

तीसरे नम्बर पर एक ऐसे रोगी का उदाहरण है जिनके घर में कई पीढ़ी से कभी वैद्य का प्रवेश नहीं हुआ था । रोगिणी को १०—११ महीने से ज्वर था जो बच्चा होने के अनन्तर ही प्रतीत हुआ था । दस्त बहुत आते थे और

वक्तव्य

आयुर्वेद ही अकेला नहीं, समस्त वेदविद्या आजकल अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त है। इस विद्या की हीन दीन दशा देखकर महाभारत का वह दृश्य स्मरण हो आता है जब विराट के घर प्रच्छन्न वेष में अपनी विपत्ति के दिन बिताती हुई द्रौपदी को साधारण दासी समझकर दुर्दम दुरात्मा नीच कीचक ने ठुकराया था।

आयुर्वेद पर भी इस समय चारों ओर से आक्रमण हो रहे हैं। कभी कोई 'सज्जन' असेम्बली में बैठकर आयुर्वेद की समस्त पुस्तकों को समुद्र में डुबाने की 'नेकसलाह' देते सुने जाते हैं तो कभी कोई महानुभाव कौंसिल में बैठकर आयुर्वेद को अवैज्ञानिक और अनुपयोगी कहकर ललकारते तथा समस्त आयुर्वेद-प्रेमियों के नाम खुला चैलेञ्ज देते देखे जाते हैं। कोई इसे 'Greatest unscientifie systen in India' कहकर मुँह चिढ़ाते हैं तो कोई वात, पित्त, कफ के सिद्धान्त को यूनान या मिस्र से आया हुआ बताते हैं।

एक तो इस चिकित्सा का 'मिसरानी' नाम ही सन्देह-जनक है, फिर न किसी आयुर्वेद के ग्रन्थ में वात, पित्त, कफों की दार्शनिक मीमांसा है न किसी दर्शनकार ने अपने पदार्थों में इनका अन्तर्भाव दिखाया है। प्रत्युत चरक ने वात, पित्त, कफ को सत्त्व, रजस्, तमस् से अलग बताया है। इनके गुण भी तो भिन्न हैं। सत्त्व, रजस् आदि की साम्यावस्था में प्रलय होता है, परन्तु वातपित्तादिक की समता में ही आरोग्य होता है। वात, पित्त, कफ की विषमता भयानक है, परन्तु सत्त्वादिक की विषमता से ही संसार की सत्ता रहती है। सत्त्वगुण से कोई रोग,

उनमें कभी कभी खून भी आता था। हाथ पैरों में सूजन थी। अरुचि के कारण कुछ खाया नहीं जाता था। यदि दो एक ग्रास खाया तो पेट का विकार बढ़ता था। ऐलो-पैथी चिकित्सा हुई और इन्जेक्शनों की अन्तिम मात्रा तक पहुँचाई गई, परन्तु लाभ कुछ न हुआ। तब सब लोग निराश हुए। रोगिणी का एक लड़का लखनऊ यूनी-वर्सिटी के एम्० ए० क्लास में पढ़ता था। उसकी उदासता के कारण मित्रों में चर्चा हुई। साथियों में दो छात्र ऐसे थे जिन्हें पहले डॉक्टरों ने राजयक्ष्मा घोषित किया था और आयुर्वेदिक चिकित्सा के उद्देश्य से ही हिन्दू यूनीवर्सिटी छोड़कर लखनऊ यूनीवर्सिटी में भर्ती हुए थे। उस समय वे अच्छे हो चुके थे। उन्हीं के समझाने बुझाने से हमें यह रोगी दिखाया गया। चिकित्सा का फल जो कुछ हुआ उसे तो आप रोगिणी के पति (जो कि बलराम-पुर की छोटी महारानी साहबा के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं) के ही शब्दों में सुनेंगे, परन्तु इनके घर की एक घटना हमें अब तक नहीं भूली है। दूध का कल्प समाप्त होने के बाद जब हमने सोना मूँग का पानी रोगिणी के लिये बताया तो उनकी ननद ने बँगला भाषा में कहा कि "हमें क्या मालूम था कि तुम सोना मूँग खाओगी नहीं तो बङ्गाल से लेते आते। हम तो तुम्हारी मृत्युशय्या का तार पाकर तुम्हें रोने और बच्चों को सम्हालने आये थे।" परन्तु ईश्वर को कुछ और ही करना था। जिस रोगी को चारपाई पर लिटाकर चादर उढ़ा देने पर यह नहीं समझ में आता था कि यह खाली चादर पड़ी है या इसके भीतर कोई है, वह आज खूब मोटी ताज़ी तन्दुरुस्त हैं।

रायबहादुर श्रीयुत ठाकुर मशालसिंहजी M. L. C. के पत्र का लिखा एक अंश—

My wife was suffering from a terrible disease which was diagnosed by the most competent alopathic Doctors as cancer in the womb. I was told by Lady doctor Dauglas that the patient could not be cured without operation but the lady was too weak to undergo an operation. I put her under the treatment of Pandit Shalig Ram Shastri of Lucknow who cured her completely by his skilful Ayurvedic treatment. She is alright now...

....

MASAL SINGH,
(R.B., M.L.C.)
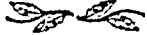
कौन्सिल में ठाकुर साहब का व्याख्यान—

RAI MASHAL SINGH BAHADUR,

I am extremely sorry that the honourable opposer of this resolution having thrown the gauntlet, this side and that, has finally left the Council. I asked him to kindly hear us as to what we have to say in refutation of the assertions which he has made so violently against the Unani and Ayurvedic systems of medicine. No doubt he accuses us of some prejudice against the alopathic system. I think he is not quite correct. We have no prejudice against the alopathic system. Rather I find that these alopathic doctors have a great prejudice against any other system except their own, whether it be homœpathic or Louis.

Kuhne system or Unani or Ayurvedic system. Except their own, they do not believe in any other system at all. In their opinion their's is the only system which is based on science. But I find it otherwise. My practical experience is the other way. Recently I had a patient in my own house. I got the patient examined by the best doctors of this city. They all said that there was no remedy except an operation and the patient was too-weak to undergo that. I put the patient under the treatment of a Vaid and the patient is nearly cured. I can give another example from my own experience. A boy was suffering from phthisis and the good doctors of the Medical College said that the patient was suffering from galloping consumption and it was a case that could not be cured. He was put under the treatment of Pandit Salig Ram Shastri of Lucknow City. He has treated the boy successfully and he has now recovered and has passed his F. A. Examination this year. So our experience tells us that it is not only the alopathic system which is the most perfect system but there are other systems which are equally good and that we should not be so prejudiced against any other system.

* * * * * * * * * *

BALRAMPUR (OUDH).
Dated 11*th April* 1924.

SRIMAN VAIDYA JI MAHRAJ.

I have perfect faith in the Ayurvedic system and my wife's case has confirmed it. My wife was in a

most hopeless and helpless condition when you took up the case. She was given up by Doctors but your skilful treatment revived her and she is now in a very healthy condition. We never thought that she would live and we owe her life entirely to you. I need not say more.

Yours sincerely,
ABINOSH CHANDRA MITRA,
PRIVATE SECRETARY TO
THE MAHARANI SAHIB,
Balrampur.
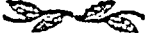
अब हम एक ऐसे रोगी का उदाहरण देते हैं जिसे संग्रहणी और आँत का क्षय था।

MEMO.

My wife who had been ailing from abdominal troubles for over five years was treated by several eminent doctors and Vaids but their treatment did her no good. She was a victim to 'Sangrahni', could not digest even the lightest feed, and was reduced to a skeleton. She suffered from pain in the bowels and in different parts of the body and could not sleep properly. She felt extremely miserable and sick of her life. I had well nigh lost all hope of her recovery when I was introduced to Shastri Shalig Ram Ji Kaviraj and advised to place her under his treatment. My wife accordingly was under his treatment for nearly three months, and I cannot help

remarking that his medicines worked wonders. All her troubles gradually left her and she was eventually restored to normal state of health. I cannot really find words to adequately express my sense of gratitude to Shastri Shalig Ram Ji Kaviraj whose intelligent diagnosis of the case, highly efficacious method of treatment and sympathetic attitude have all contributed to save my wife from the clutches of death.

(Sd.) KAILASH CHANDRA MISRA,
SUPDT., POST OFFICES,
Cawnpore Division.

CAWNPORE :
12th July 1922.
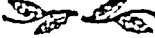
Pandit Salig Ram Shastri has treated my wife according to the Ayurvedic system of medicine with very great success. She had been suffering for 4 months from fever and complaint of the lungs. She was at first put under an Alopathic doctor who after examining her found that she was suffering from tuberculosis (Phthisis). I asked his sound opinion who advised me to put her under Ayurvedic treatment; therefore, I put her under the treatment of Pandit Jee who attended the patient with great care and sympathy Six weeks' treatment has done her immense good. She is now practically out of danger, the fever has gone, the general health has improved and all the complaint of her chest has gone, and after this I put her examined under Alopathic Doctor who found her out of tuberculosis.

I am extremly grateful to Pandit Ji for his help kindness and sympathy.

KRISHAN LAL SWAMI OF RISHIKESH.

LUCKNOW:
9th November 1922.

* * * * * * * * * *

BENARES:

19th September 1919.

It was on the 20th August, 1918, that I had an attack of influenza. I put myself under the treatment of a well-known local doctor. By his treatment there was some fall in my temperature, but no relief from cough, which was of long standing. I tried a famous local vaidya also, but found no marked improvement in my condition. Gradually the whole thing developed into slow fever and violent cough.

At last I went to Lucknow to seek medical advice. There I found a great difference of opinion among several doctors whom I consulted. As final authority I got myself examined by Professor Major Meagaw, of the King George's Medical College. He declared my left lung to be defective and discovered tuberculosis germs in my sputum. He advised me to go to some hill station and put myself under the treatment of some medical expert.

Always convinced of its efficacy in case of consumption I decided to stick to Ayurvedic Treatment,

but at the same time thought it desirable to go to some hill station.

While on my way to Solon I was told of Pandit Shalig Ram Shastri of Bareilly. With a view to consult him, I halted at Bareilly and must confess that from the very first day of his treatment I began to feel a decided improvement in my condition. Soon after I gave up the idea of going to the hills at all, and decided to remain under his treatment. Now I get no fever, and I am glad to say, find myself restored to my normal health. I still use his medicines as a precautionary medicine.

The case of my cousin Vasanti was still worse. She suffered from the discharge of white matter, a complaint of very long standing, and used to have occasional fits of hysteria of epileptic type. Her menses too was very irregular.

In July, 1917, she had an attack of ague and soon after began to suffer from slow fever. In February, 1918, her case was made still more complicated by the appearance of a new complaint of profuse blood discharges at short intervals.

At this stage she was put under the treatment of a lady doctor, who was however able to check the new complaint to some extent. But while her treatment was going on, to crown all complaints, the patient began to spit blood.

She was at once declared a case of consumption and the help of a retired (Rai Bahadur) Civil Surgeon

was sought. He failed to offer any relief to the patient but simply aggravated the complaint of blood spitting. She began to spit blood 4 or 5 times a day and in large quantity too.

The injection treatment was also tried for two months. It, no doubt, stopped blood spitting, for some time, but failed to produce any change in her temperature. Her other complaints also appeared very often one after another and sometimes simultaneously too.

In June, 1918, I sent her to Cawnpore to be put under the treatment of a well-known Unani Hakim. His treatment brought no relief whatsoever to her. She suffered very much from white discharge at this time and vomitted blood 4 or 5 times a day as before. At this stage, a new complaint also appeared. Her blood discharges began to be followed by fits of insanity, which lasted sometimes for two or three days. During the fits the temperature used to go below 95.

The Hakim, in despair, gave up the case, and she was put under the treatment of some Vaidyas. Though they differed very much in their opinion as regards the nature of the case and were almost despaired of her life, but however, were able to check the force of her many complaints, at a very critical time.

While going to Solon, I decided to take her also with me. When I consulted Shastriji about her, I

was really surprised to hear, that she was not suffering from consumption at all. He declared the discharge of white matter to be the root cause of all her complaints, and proceeded in his treatment on that assumption.

It must be admitted that he has succeeded pretty well. She gets no fever now, blood spitting is almost stopped, blood discharges and fits of insanity are very rare, menses has been almost regular, and the discharge of white matter has also ceased to trouble her much. On the whole she has gained very much in her health, quite beyond our expectations. The treatment is still continued, and we hope to see her alright some day.

(Sd.) GANGA SHANKAR MISRA,
M. A.,
LIBRARIAN, BENARES,
Hindu University Library.

In the Summer of 1908 I studied so hard as to very much endanger my digestive organs. These troubles grew worse and worse, as the years rolled on, till in May 1916, at the end of my student career, I found myself a complete wreck. My constitution appeared to be hopelessly shattered. Since June 1916 I had to attend a close relation of mine, continuously for 3 months together. He ultimately died of a serious heart trouble. By this time I was almost a skeleton with every organ of the body more or less

affected. However, I pulled on any how till the summer of 1917, without improving in any way in spite of my best efforts.

It was now in the beginning of the rainy season of 1917, that I was attacked with a severe type of malignant Maleria. The local physicians almost succeeded in checking the fever for a few days, but the so-called end of the disease proved to be only the beginning of a very complicated and protracted illness that defied the skill of, an even the diagnosis by various doctors of great merit.

There was a certain peculiarity about my disease. The severe types of dyspepsia, diarrhœa, constipation, congestion of the liver, heart and bowel complaints, cold, cough, fever, ague and profuse night sweats together with other minor troubles continued for about 10 months together. In the second month of my illness, a renowned Civil Surgeon and an Assistant Surgeon, after two days' careful and thorough examination, declared me to be surely a Phthisis patient and gave me up as an altogether hopeless patient. Other local physicians also having failed I was taken to Bareilly for better medical aid there. Almost all the medical practitioners were tried but without any hopeful result excepting a Homœpathic practitioner who could arrest the course of fever and its other severe symptoms for about 4 weeks with the use of Tuberculinum. Finally this medicine also failed leaving me altogether helpless. My Phthisis, now, with its

दोष नहीं हो सकता, परन्तु वात, पित्त, कफ इन तीनों से विकार होते हैं। फिर चरक ने कफ के जो लक्षण लिखे हैं उनमें कुछ तमोगुण से मिलते हैं, कुछ सत्त्वगुण से। वात, पित्त का भी यही हाल है। इसी से कुछ लोगों का तर्क है कि वात, पित्त, कफ का सिद्धान्त यहाँ बाहर से आया है।

इसी तरह की बातें सुन सुनकर हमारे कई मित्र इस सम्बन्ध में कुछ लिखने का आग्रह बहुत दिनों से कर रहे थे, परन्तु अवकाशाभाव के कारण हम उनकी आज्ञा का पालन न कर सके। इधर यह भी खयाल था कि कुछ दिनों में लोगों का जोश ठण्डा हो जायगा, पर हुआ उससे ठीक उलटा। समय बीतने के साथ साथ आग्रह बढ़ता गया। अन्ततः पिछले दिसम्बर में जैसे तैसे अवकाश निकालना ही पड़ा। एक मास के परिश्रम से यह सन्दर्भ तैयार हुआ। सोचा था कि किसी मासिकपत्रिका में प्रकाशित हो जायगा, परन्तु विचारणीय विषयों की प्रचुरता के कारण कई सौ पृष्ठ हो गये। तब इसे पुस्तकाकार छपाना ही उचित समझा।

दिसम्बर में लिखना आरम्भ हुआ और जनवरी में छपना शुरू हुआ। फ़रवरी में पुस्तक तैयार हो गई। लिखी भी जल्दी में और छपी भी जल्दी में। कुछ तो इस जल्दबाज़ी के कारण और कुछ हमारे अज्ञान के कारण इसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं, परन्तु उन त्रुटियों के अतिरिक्त कुछ और भी होना सम्भव है, इसलिये—

"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ;
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।"

शालग्राम

fever, the characteristic cough, the blood stained expectoration and pain in the right lung seemed to be in an advanced stage. Under such conditions further effective treatment appeared to be almost useless and impossible. But God willed it otherwise and my curiosity took me to Sahitya Charya Pandit Salig Ram Shastri Kaviraj, who has established there very recently and was altogether unknown to me. I absolutely refused to tell him anything about my disease and left the complete burden of diagnosis by feeling my pulse. I was very much surprised at the only true diagnosis by him for the first time. It was so thorough. The appropriate medicine followed it and my recovery was soon in sight. Who was not taken by surprise, when in less than two months' time I returned to my work with renewed vigour!

Since that time I have had the greatest confidence in the unrivalled skill of the above Kaviraj and it was more than justified on every occasion. I wish I can quote all the instances of my personal experiences at least but as the space at my disposal would not allow it, I shall have to be content with the two following cases:—

(1) My wife suddenly fell a victim to the terrible Influenza that was prevalent after the Great War. She had very high fever for 9 days together. During the last three days she became quite unconscious. Her case was declared quite hopeless by the kind and clever Assistant Surgeon who was continually attend-

ing her. Other local Physicians of some repute were called and agreed with the Assistant Surgeon. I then sent for the great Kaviraj. But before he could arrive even by the first train, the patient's heart began to fail under double Pneumonia and it was with very great difficulty that she could escape sinking altogether. Verily, there were present all the symptoms of fast approaching death when Shastri Ji arrived. He immediately felt pulse and administered a pill with his characteristic words that it would fully sustain her. After some two hours he arranged for a peculiar steam bath that magically and literally roused the patient from her death bed within 20 minutes. I have never seen such a miraculous cure throughout my life. The great Kaviraj next day returned to Bareilly leaving all the people here to simply admire at his exceptional skill.

(2) The last is a recent and very serious case of my wife. In July, 1924, she gave birth to a child that died suddenly within a week of lock-jaw. Since then her untold (indescribable) sufferings began. She got high fever that would occasionally come down by a degree or two only but would not vanish even for a moment. She had cough with being affected. She had shifting pains all over the body, regular night sweats, extremely uncertain and occasional discharges of excessive urine, sapping the very residue of her strength within a few hours to the imminent danger of her life, palpitation of heart, short breathing and

crippled digestion. In addition to these there were other peculiar and distressing symptoms shifting every moment and rendering it unsafe and impossible to administer the various doses of different medicines prescribed even by Shastri Ji on his regular visits from Lucknow to treat her but, of course, could not stay here for days together. Thus under the circumstances her treatment by him was rendered absolutely impossible until the patient was removed to Lucknow and accommodated somewhere near his residence. As my private affairs at the time could hardly allow me to take up the case alternative of removing the patient to Lucknow, I decided to try a renowned Hakim who was then staying here, when he failed after his best attempts for two weeks together. I tried others including the local Assistant Surgeon. I consulted even two famous astrologers first. They prophesied that all would be over with the patient within 15 days. However though after a few days it was contradicted by a more renowned astrologer. There was no other alternative left now but to remove her at any cost. She was taken to Lucknow and had to be kept under Shastri Ji's treatment for four months together. During that time he had to pass extremely anxious moments in preserving the life of the patient and I am certain that but to his great skill, perseverance and unfailing continuous watchfulness, it was well nigh impossible for the patient to survive.
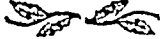
The above three instances of marvellous cures are

something like miracles to me and to my friends and acquaintances. They have not only infused an unbounded faith in his medical skill but also put me under a lifelong obligation.

The medicines he gives to his patients are of unsurpassed value, his learning and knowledge unfathomable and over and above all stands his unrivalled skill in diagnosis as well as the successful treatment of serious and complicated diseases.

Long time he to administer life, health and energy to the suffering world.

(Sd.) SHIVA BHAJAN LAL, MISRA,
B.A.,LL.B.,
VAKIL,
Hardoi (Oudh).

* * * * * * * * * *

श्रीमान् परिडतजी, प्रणाम।

क़रीव डेढ़ साल से राजयक्ष्मारोग होने के कारण खाँसी और ज्वर से मेरे जीवन की कोई उम्मेद न थी। अपनी बीमारी का इलाज कई हकीम, वैद्य, डॉक्टरों का किया परन्तु उक्त महाशयों की औषधियों से कुछ भी फ़ायदा न हुआ। जब से आपकी दवा का सेवन किया असर जादू का सा दिखाकर मेरे शरीर को आरोग्य कर दिया। अधिक कहाँ तक लिखूँ। आपके औषधालय की तारीफ़ मैं लिखने में असमर्थ हूँ। इति

भवदीय
ता० ११।८।२४ रामचरणलाल सब पोस्टमास्टर
गुरुबक्शगंज (रायबरेली)

❀ क्षेत्रिय यक्ष्मा ❀

स्थान—लखनऊ
१५, हीवेट रोड
ता० ५।३।२१

श्रीयुत मान्य महोदय पं० शालग्राम शास्त्रीजी की सेवा में निवेदन है कि मैं अन्तःकरण से आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मेरे पुत्र चि० विद्याधर को प्राणदान दिया। इतना ही नहीं बल्कि मुझे मय परिवार के इस संसार में जीवित रक्खा—क्योंकि ता० १२ अगस्त सन् २० से लेकर ता०५ सितम्बर सन् २० तक उसके मुख से निरन्तर रक्त गिरने के कारण लड़के की दशा आशारहित हो चुकी थी। इस बीच में वैद्यक, ऐलोपैथी व होम्योपैथी आदि सब औषधियों का प्रयोग होता रहा परन्तु किसी वैद्य व डॉक्टर ने कोई सन्तोषजनक बात न कही। लड़के की दशा देखते हुए मुझे भी निश्चय हो चुका था कि इस लड़के के साथ मेरे भी प्राण पयाग करेंगे। जिसका परिणाम मेरे अन्य सन्तान को जो दुःखदायी होता वह कथन योग्य नहीं। मेरा हृदय विदीर्ण हो चुका था। और यह ईश्वर से प्रार्थना करता था कि इस समय कोई व्यक्ति मेरा सर्वस्व लेकर भी मेरे लड़के को बचाये तो भी मैं उसकी महानुभाव दया से उऋण नहीं हो सकता था। इसी अवसर पर ईश्वरकृपा से आपने बरेली से आने का कष्ट उठाया और एक दिवस की यात्रा से मुझ ऐसे दुःखी को, जो अथाह समुद्र में डूब रहा था, बचाया। आपका वह वचन कि मैं इस लड़के को अच्छा कर दूँगा, मेरी प्राण रक्षा की और अतीव सावधानी चित्त में पैदा हो गई। ता० ६ सितम्बर सन् २० से आपकी औष-

धियों का सेवन होने लगा और उसी समय क्षयरोग का क्रमशः क्षय होने लगा। लड़का शिथिल होकर चारपाई का मेहमान हो चुका था और लङ्घन कराये जाते थे। आपने पथ्य देकर धीरे धीरे भोजन करने व हज़म करने की शक्ति बढ़ाई। यहाँ तक कि एक महीने के अवसर में रोग आधा घट गया। और चलने फिरने की शक्ति आ गई। अब इस समय वह मेरी समझ में बिल्कुल अच्छा है और अपना काम करने योग्य भी प्रतीत होता है। केवल लेशमात्र खाँसी व बलग़म बाक़ी है सो भी आपकी अनुग्रह से साफ़ हो जावेगी। जिस समय मैं लड़के को लेकर बरेली से वापिस आया था, तो लखनऊ के डॉक्टर व वैद्य लोग उसको देखकर अचम्भा मानने लगे और बहुतों का विश्वास अब भी नहीं है कि ज्वर आदि शान्त हो। बरेली में भी बहुत से लोग मुझे पागल कहते थे कि क्यों यहाँ पड़ा है। पहाड़ ले जाना चाहिए। लेकिन मैंने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया। केवल आपके विश्वास पर इस समय तक रहा और रहूँगा। मेरे विश्वास का फल आपके हार्दिक प्रेम से ईश्वर ने मुझे दिया। चूँकि मेरे बड़े भ्राता मेरी कन्या व भ्रातृपुत्र इन तीन प्राणियों की इसी क्षयरोग में मृत्यु हुई। मैंने भाईजी की औषधि में पाँच वर्ष, भतीजे की औषधि में दो वर्ष और कन्या के लिये तीन मास व्यतीत किए और इसी अवधि में सबने मृत्यु पाई। मैंने किसी प्रकार की चिकित्सा में न्यूनता न की। भ्राताजी को अलमोड़ा व पुरी समुद्रयात्रा इत्यादि सब कार्य किए, परंतु सबका परिणाम मृत्यु। मेरी अवस्था ५० वर्ष की हुई और बहुत बड़े परिवार से हूँ। इस बीच में अनेक रोगों से मेरे कुटुम्ब में मृत्यु होती रही। मुझे बड़े से बड़े वैद्य व डॉक्टरों का सामना रहा। मैं हार्दिक
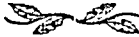
सत्यता से यह कह रहा हूँ कि मैंने अपनी अवस्था में आप सरीखा योग्य वैद्य से सामना न पड़ा था और न इस तरह से चिकित्सा करते देखा कि रोगी की हरएक दशा को देखते हुए चारो तरफ़ ध्यान रखकर दवाई करना। हर नवीन उपद्रव को उसी समय रोकना। मूल कारण का क्रमशः नाश करते रहना। इसी तरह से अनेक उपायों की प्रशंसा करने को लेखनी द्वारा प्रकट करना मेरे लिये असम्भव है। अतः मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आपको मय परिवार चिरायु करे और सदैव अपने काम में सफलता देवे। मैं स्त्री पुरुष जन्मान्तर आपकी इस कृपा से जो मेरे बच्चे के बचाने में की उऋण नहीं हो सके हैं। किमधिकं विज्ञेपु।

भवदीय
कामताप्रसाद मिश्र
मैनेजर,
रानीसाहब, सवायजपुर, हरदोई (अवध)

* * * * * * * * * *
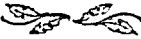
मैं और मेरी स्त्री पिछले दिनों ज्वर से बहुत पीड़ित हो गये। स्त्री तो कार्त्तिक १६७६ के इन्फ्लूएंज़ा में ग्रसित थी और मैं मलेरिया ज्वर से पीड़ित था। इसके पृथक् मुझे बहुत पुराना उदररोग (क़ब्ज़) भी था। मैंने महोबा के अपने माननीय पं० मानिकचन्द्रजी सब असिस्टेण्ट सर्जन की औषध आरम्भ की—जो मुझे चित्त से बहुत प्रेम करते थे। उन्होंने मेरी स्त्री को इन्फ्लूएंजा से तो बचा लिया पर उसके पश्चात् ही उसके मुख से रक्त आने लगा। उन्होंने बहुत सी औषध दी पर कोई लाभ नहीं हुआ। और न मेरा ही मलेरिया ज्वर

गया न क़ब्ज़ । चूँकि वह मुझसे प्रेम करते थे उन्होंने मुझे लखनऊ जाने की राय दी । मैं उनकी आज्ञानुसार इस्तफ़ाक़िया छुट्टी लेकर लखनऊ आया और छेदीलाल के धर्मशाला की ऊपरी मंज़िल में ठहर गया और लखनऊ मेडिकल कॉलेज में अपनी स्त्री की औषधि आरम्भ की । इस समय फ़ीमेल डिपार्टमेंट (Female Department) के इनचार्ज डॉक्टर शिवशंकर गुप्त थे । उनसे प्राइवेट रीति से मैंने भी अपना इलाज आरम्भ किया । अब वह मेरी और मेरी स्त्री दोनों की औषध करने लगे । मैं इस्तफ़ाक़िया छुट्टी के खत्म पर औषध लेकर महोवा चला गया और स्त्री के लिये लखनऊ में इन्तज़ाम कर दिया कि उसकी औषध वहाँ होवे । इसके अतिरिक्त डॉक्टर साहब ने उसके लाने की आज्ञा भी नहीं दी । अन्त में डेढ़ महीना बाद लखनऊ से मेरे पास तार आया कि तुम्हारी स्त्री अधिक निर्बल हो गई और कोई लाभ नहीं, तुरन्त आओ । यहाँ मैं बुख़ार और क़ब्ज़ न जाने के कारण इस क़दर कमज़ोर हो गया था कि छः मास की छुट्टी की दरख़ास्त मय डॉक्टरी सर्टिफ़िकट के दे दी थी । तार देखते ही घबरा गया और इतवार की छुट्टी में आज्ञा लेकर भागा और उसको महोवा लाने का प्रयत्न किया । वहाँ मुझसे पं० सूर्यकुमार मिश्र से भेंट हो गई । उन्होंने मुझको बरेली श्रीमान् पण्डित शालग्राम शास्त्री वैद्य की सेवा में ले जाने की अनुमति दी । यहाँ मेरी जन्मभूमि भी थी इसलिये मैंने अपनी छुट्टी बरेली में ही व्यतीत करने का विचार कर लिया और छुट्टी मंज़ूर होने पर फ़ौरन् बरेली पहुँचकर अपना और स्त्री का इलाज आरम्भ कर दिया । परिणाम यह हुआ कि स्त्री तो बिलकुल अच्छी हो गई जिसको

लखनऊ के बड़े बड़े डॉक्टरों ने लाइलाज बताया था। अब उसके मुँह से खून आना बिलकुल बन्द है। यद्यपि रोटी आदि बनाने के समय रोज उसे गरमी में आग के सामने बैठना पड़ता है। उसका ज्वर बिलकुल जाता रहा। मासिकधर्म ठीक होने लगा और प्रदर की बहुत पुरानी शिकायत बहुत कम हो गई है। मेरा ज्वर भी निःशेष हो गया है और कई रोग जो मुझे बहुत पुराने थे ठीक होने लगे हैं। मैं भी अभी औषध खा रहा हूँ। मैं शास्त्रीजी का बहुत कृतज्ञ हूँ और अब नीरोग होकर अपनी नौकरी पर जाने के लिये तैयार फिर रहा हूँ।

ता० ७ जून सन् १६२०ई० — छेदालाल
असिस्टेण्ट रजिस्ट्रार क़ानूगो
महोवा
ज़िला हमीरपुर, बुन्देलखण्ड
यू० पी०

* * * * * * * * * *

सन् १६०८ की ग्रीष्म ऋतु में पठन पाठन के कठिन परिश्रम ने मेरी पाचनशक्ति को बिगाड़ दिया। यह कष्ट दिनोंदिन यहाँ तक बढ़ता गया कि मई सन् १६ में जब मेरा पढ़ना समाप्त हुआ तो शरीर जर्जर हो चुका था और सँभलने की आशा बहुत कम रह गई थी। इसी के साथ जून सन् १६ से मुझे अपने एक सम्बन्धी असाध्य रोगी की अहर्निश सेवा ३ मास तक करनी पड़ी। अन्त में हृदयविकार से उनकी असामयिक मृत्यु का प्रवल आघात मेरे ऊपर पड़ा कि जिससे मेरे शरीर की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई! सन् १७ की गर्मी तक ज्यों त्यों पार हुआ। वर्षा ऋतु आरम्भ होते ही विषम मैलेरिया ने आ घेरा। ६ सप्ताह के

अत्यन्त प्रयत्न के पश्चात् बुख़ार तो रुक सा गया पर दशा वास्तव में कुछ भी न सँभली और थोड़े ही दिन पीछे एक विचित्र रोग में परिणत हो गई। मोटे मोटे लक्षण उस रोग के यह थे—घोर अजीर्ण, पेचिश, क़ब्ज़, यकृतविकार, हृदयविकार, जुकाम, खाँसी, जाड़ा बुख़ार, और रात्रि को अत्यन्त पसीना आना। यह सिलसिला दस महीने तक बढ़ता ही गया। शरीर में पानी छूते ही अथवा आकाश में बादल का टुकड़ा देखते ही १०४ दर्जे का बुख़ार मेरे लिये तैयार हो जाता था। डॉक्टरों ने अच्छी तरह से देख भाल कर असाध्य यक्ष्मा तजवीज़ किया। सब प्रकार की औषध देश और विदेश में हुई पर १० महीने तक सफलता कहीं प्राप्त न हुई। अन्त में केवल संयोगवश साहित्याचार्य श्री पं० शालग्राम शास्त्री कविराज के दर्शन बरेली में हुए और उनकी नाड़ीपरीक्षा में असाधारण शक्ति देखकर, क्षमा कीजियेगा, उपचारकों पर से फिर एक बार अविश्वास हट गया। दूसरे ही दिन से इन महानुभाव की औषध ने असाधारण लाभ किया और लगभग डेढ़ महीने में मुझे उस असाध्य और विकराल रोग से मुक्त किया। उस समय से हम लोग उक्त शास्त्रीजी की निपुणता और विलक्षणता के भक्त हो गये हैं और वह श्रद्धा दिनो-दिन बढ़ती ही जाती है।

फिर महायुद्ध के पीछे मेरी पत्नी को इन्फ्लूएंज़ा हुआ। ९ रोज़ तक १०५ का बुख़ार रहा। मेरे एक परम मित्र असिस्टेण्ट सर्जन की औषध होती रही। नवें रोज़ उन्होंने कहा कि डबल निमोनिया हो गया है और रोगी के जीवन की आशा कम मालूम होती है। तीन रोज़ पहले से रोगी का बोलना चालना और आँखें बन्द हो गई थीं। होश नहीं था। मैंने अपने

पाञ्चालीं चलितां चतुर्थपतितां सद्वेदविद्यामिवाऽ-

रे रे कीचक नीच वंशदहनीं मास्माऽवमंस्थाश्चिरम् ।

अन्तर्ध्वान्तमनन्तवैरिदमनोन्मीलल्ललामोत्सवो

भ्राम्यद्भीमगदो मदोपशमनो जागर्ति पार्थो बली ॥१॥

मित्र की सम्मति लेकर उक्त शास्त्रीजी को बुलाने के लिये एक आदमी रात ही में भेज दिया। जल्दी से जल्दी उनके आने का समय ३॥ बजे दिन था। पर ११ बजे दिन को ही डॉक्टर साहब ने कहा कि अब रोगी के हृदय की गति मन्द पड़ने लगी है और शायद दो घण्टे से अधिक न चल सके। रोगी हर प्रकार से अपनी मृत्युशय्या पर जान पड़ता था। अन्तिम समय के सब चिह्न पूर्ण रूप से दिखाई देने लगे थे। डॉक्टर साहब बड़े प्रयत्नों से शास्त्रीजी के आने तक रोगी को रोक रखने की चेष्टा करने लगे। अन्त में शास्त्रीजी ३॥ बजे के लगभग आ ही तो गये और नब्ज़ देखकर एक गोली कठिनता से रोगी को दी। कुछ सामग्री एकत्र करके लगभग ८ बजे शाम को एक बफारा दिया कि जिससे लगभग २० मिनट में रोगी उठकर बैठ गया, सबको पहचाना और खाने को माँगा। यह आश्चर्यजनक घटना आ-जन्म हम लोगों को नहीं भूलेगी। दूसरे दिन औषधि देकर शास्त्रीजी वापिस गये। रोगी धीरे धीरे उन्हीं की दवा से बिलकुल अच्छा हो गया।

तीसरी बार की विशेष और नवीन घटना फिर मेरी पत्नी के रोग के सम्बन्ध में है। सन् १९२४ के श्रावण में एक बच्चे का जन्म होने के बाद पाँच व छ दिन में वह बच्चा मर गया और मेरी स्त्री को बुखार आने लगा। कुछ ही समय में उनके रोग की दशा विचित्र हो गई। प्रतिदिन ११½ बजे दोपहर को बुख़ार ९९ से बढ़कर १०२ तक सन्ध्या को पहुँच जाता। खाँसी और सारे जिस्म में यहाँ वहाँ दर्द, रात्रि को अत्यन्त पसीना, हृदयकम्प, श्वासकष्ट और आमाशय की विशेष शिथि-लता। इसी के साथ हर तीसरे चौथे एक ऐसा भयानक दौरा बहुमूत्र का होता था कि जिससे क्षण क्षण पर रोगी

के शरीर से शक्ति बड़े वेग से निकलती जाती थी और कुछ ही समय में अत्यन्त विकट समस्या रोगी के प्राणों की पड़ जाती थी। प्रदर भी पूर्ण रूप से उपस्थित था। दाहिने फेफड़े में भी खराबी थी। ६ मास तक सब प्रकार की औषधि होती रही पर सब बेकार। रोग के लक्षण क्षण क्षण पर बदलते दिखाई देते और प्रत्येक ने हैरान होकर रोग को बिलकुल असाध्य करके छोड़ दिया। अन्त में रोगी को लखनऊ ले जाकर श्रीमान् शास्त्रीजी के इलाज में रक्खा। इस बार के उनके परिश्रम, स्वार्थत्याग और निपुणता को शब्दों द्वारा प्रकट करना मेरे लिये सर्वथा असम्भव है। हमारी निगाह में तो उन्होंने रोगी को नया जन्म ही दिया।

मेरे इस लेख का मुख्य प्रयोजन यही है कि इसे पढ़नेवाले अपने अथवा अपने इष्टमित्रों के शारीरिक कष्टों को उक्त शास्त्रीजी के द्वारा मिटाने का यथाशक्ति प्रयत्न करें। पूर्ण आशा है कि उन्हें विशेष सफलता प्राप्त होगी।

निवेदक—
शिवभजनलाल मिश्र
B. A., LL. B.
वकील, हरदोई

* * * * * * * * * *

२० अगस्त सन् १९१८ को मुझे इन्फ्लूएंज़ा का दौरा हुआ। मैंने यहाँ के एक विख्यात डॉक्टर का इलाज प्रारम्भ किया। उनके इलाज से ज्वर का वेग अवश्य कुछ कम हो गया, पर खाँसी, जो कई महीने पहले से आती थी, बढ़ती ही गई। काशी के एक बड़े धुरन्धर वृद्ध वैद्यजी को भी दिखलाया, पर उनकी चिकित्सा से भी कोई लाभ न हुआ, और धीरे धीरे ज्वर बस गया।

अन्त में डॉक्टरों की राय लेने के लिये मैं लखनऊ गया। वहाँ के डॉक्टरों में बड़ा मतभेद था। कोई कहता था कि जिगर में ज़ख़्म है, कोई कहता था कि फेफड़े में छिद्र है। वहाँ के वैद्यों की भी ऐसी ही दशा थी। इस मतभेद को दूर करने के लिये मैंने किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज के अध्यापक मेजर मेगा को दिखलाया। उनकी राय में मेरा बायाँ फेफड़ा खराब हो रहा था, और कफ में राजयक्ष्मा के कीड़े थे। उन्होंने मुझे शीघ्र ही किसी पहाड़ी स्थान पर जाकर डॉक्टरी इलाज करने की सलाह दी।

मैंने पहाड़ी स्थान पर जाने की बात तो मान ली, पर इलाज आयुर्वेदिक ही रखना चाहा, क्योंकि मेरा बहुत काल से यह विश्वास था कि ऐसे जटिल रोगों की औषध डॉक्टरों के पास नहीं है।

जब मैं सोलन जा रहा था, मार्ग में मुझे बरेलीनिवासी साहित्याचार्य पं० शालग्राम शास्त्री का परिचय मिला। एक दिन बरेली ठहरकर मैंने उनकी भी सम्मति लेनी चाही। वह भी मेजर मेगा से सहमत थे। उन्होंने दो तीन दिन बरेली रहकर चिकित्सा करने के पश्चात् आगे के लिये राय निश्चित करने की सलाह दी। उनकी चिकित्सा प्रारम्भ होते ही, मुझे लाभ दिखलाई पड़ने लगा। मैंने सोलन जाने का विचार छोड़ दिया, और तीन महीने बरेली ठहरकर उन्हीं का इलाज किया। ईश्वर की कृपा और उनके प्रयत्न से मैं अब बिलकुल अच्छा हूँ। अभी हाल में मुझे हृष्टपुष्ट देखकर स्वयं मेगा साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ, और उन्होंने शास्त्रीजी से मिलकर आयुर्वेदिक चिकित्सा के विषय में बहुत कुछ बातचीत करने की प्रबल इच्छा प्रकट की।

मई सन् १९२० में मुझे फिर एक विकट रोग से सामना करना पड़ा। जाड़ा देकर ज्वर आने के पश्चात् मेरे सब मसूड़े सूज गए। खाना पीना सब बन्द हो गया। डॉक्टरों में फिर मतभेद प्रारम्भ हुआ। किसी की राय में यह इन्फ्लूएंज़ा का स्वरूप था, कोई कहता था कि किसी तरह पारा खा जाने से ऐसा हुआ। कोई इसे फेफड़े का विकार बतलाता था। स्वर्गीय डॉक्टर ओहदेदार की राय में अक्ल की दाढ़ निकल रही थी। इसी अनुमान पर उन्होंने आपरेशन भी किया। पर किसी से कुछ भी लाभ न हुआ। अन्त में शास्त्री ही जी के प्रयत्न से थोड़े ही काल में इस रोग से भी मेरी मुक्ति हुई।

वासन्ती की दशा मुझसे भी बुरी थी। उसे दस बारह वर्ष से प्रदर की शिकायत थी। मृगी के ढङ्ग के हिस्टीरिया के फिट भी आते थे। मासिक स्राव भी ठीक ठीक नहीं होता था। सन् १९१७ में उसे जाड़ा बुखार आया। धीरे धीरे ज्वर बस गया। सन् १९१८ में रक्तस्राव बड़ी अधिकता से होने लग गया। काशी के एक वैद्य और लेडी डॉक्टर का इलाज प्रारम्भ हुआ, पर कोई लाभ न हुआ। तब एक पेंशनयाफ़्ता रायबहादुर सिविल सर्जन को दिखलाया गया। उनके इलाज का फल यह हुआ कि मुँह से भी खून आने लगा। दिन भर में तीन चार बार दो दो तोले तक खून आता था और सब पुरानी शिकायतें ज्यों की त्यों बनी थीं। डॉक्टर साहब के हाथ पैर फूल गये और उन्होंने कहा कि राजयक्ष्मा का तीसरा दर्जा पहुँच गया। अब इन्जेक्शन ट्रीटमेंट करके देखो, सम्भव है, उससे कुछ लाभ हो जाय। इस चिकित्सा में विशेष उपाधि प्राप्त एक दूसरे रायबहादुर डॉक्टर का इलाज प्रारम्भ हुआ। इन्जेक्शन से खून का आना तो बन्द हो गया, पर ज्वर में कोई कमी न हुई, और रक्त तथा प्रदरस्राव की अधिकता इतनी हुई कि डॉक्टर साहब भी हार बैठे।
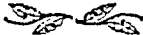
जून सन् १९१८ में एक हकीमजी के इलाज के लिये उसे कानपुर भेजा। हकीमजी किसी तरह मुँह से खून आना बन्द न कर सके। इसी अवसर में एक नई व्याधि उत्पन्न हुई। रक्तस्राव के बाद बकना प्रारम्भ हो जाता था, जो तीन चार दिन तक रहता था। ऐसी दशा में गर्मी केवल ९६ रह जाती थी। वैद्यों में बड़ा मतभेद था। प्रायः सभी को भय था कि दो महीने में रोगी की जीवनलीला समाप्त हो जायगी। इस कठिन समय पर नई व्याधियों के प्रबल वेग को रोकने में दो वैद्य अवश्य किसी अंश में सफल हुए।

अन्त में मैंने इसको भी शास्त्रीजी को दिखलाया। उनके मुख से यह वाक्य सुनकर कि इसको राजयक्ष्मा नहीं है मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने प्रदर का मूल रोग मानकर चिकित्सा प्रारम्भ की, जिससे बहुत शीघ्र ही उसे लाभ हुआ। अब उसे ज्वर बिलकुल नहीं होता, मासिकधर्म समयानुसार होता है। बकने के दौरे एकदम कम हैं। प्रदरस्राव में बहुत लाभ है। बीमारी की दशा में जिसने उसे देखा है अब वह उसको देखकर, शास्त्रीजी की योग्यता पर, दाँतों तले बिना उँगली दबाये नहीं रह सकता।

जून सन् १९२० में उसको भी इन्फ्लूएंज़ा का बेढब दौरा हुआ। किसी तरह से १०५ से ज्वर कम होता ही न था। होमियोपैथ, डॉक्टर, वैद्य सभी हार गये। खाँसी से बेहद तकलीफ़ थी। अन्त में शास्त्री ही जी के इलाज से फिर उसे शीघ्र ही लाभ हुआ।

ॐ गङ्गाशङ्कर मिश्र एम्० ए०, काशी

* * * * * * * * * *

हम अब इन चिट्ठियों में पाठकों का अधिक समय नष्ट करना नहीं चाहते। एक बात समझ लेने भर को इतना काफ़ी है।

यह बात नहीं है कि वेदों में या आयुर्वेद में यक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य रोगों की चर्चा न हो या हमारे पास अन्य रोगियों के प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद न हों बल्कि ऐलोपैथी के चैलेञ्ज (जिसकी चर्चा अभी आयेगी) के जवाब में हम वैदिक चिकित्सा में से किसी ऐसे कठिनतर रोग को चुनना चाहते थे कि जिसने ऐलोपैथी का मान-मर्दन करके अच्छी तरह उसका दर्प चूर्ण कर दिया हो। इसके लिये राजयक्ष्मा ही सबसे अधिक उपयुक्त है। इसका नाम सुनते ही ऐलोपैथी की आँखें तिलमिलाने लगती हैं और उनके आगे यमपुरी का नक़्शा खिंच जाता है। वेदों में यक्ष्मा और राजयक्ष्मा का काफ़ी वर्णन मौजूद है। उसके मूल (विष) का वर्णन है। उसके ऊपर आक्रमण करनेवाले कीड़ों का वर्णन है। रोगी के अङ्ग प्रत्यङ्ग पर होनेवाले प्रभाव का वर्णन है। रोगी के आहार विहार, रहन सहन आदि की सुन्दर व्यवस्था है। वैद्य के कर्तव्यों का पूरा निर्देश है। राजयक्ष्मा की दवाओं के नाम तक मौजूद हैं और सबसे बढ़कर यह कि ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हैं जो बड़े से बड़े धुरन्धर डॉक्टरों की सूक्ष्म परीक्षानुसार राजयक्ष्मा से पीड़ित थे और आयुर्वेदिक चिकित्सा से अब बिलकुल अच्छे हैं। यदि इतने पर भी ऐलोपैथी का हठ और दुराग्रह न छूटे तो उसे चाहिये कि किसी अच्छे आदमी से अपने दिमाग़ की परीक्षा कराये।

जिस दिन श्रीयुत रायबहादुर ठाकुर मशालसिंहजी ने कौन्सिल में आयुर्वेद का पक्ष समर्थन किया था उसी दिन मेजर डॉक्टर रनजीतसिंह साहब ने उसका विरोध किया था। प्रधान विरोधी आप ही थे। यदि आपके विरोध का उल्लेख न किया गया तो यह निबन्ध अधूरा ही रह जायगा।

क्योंकि इसके लिखे जाने का अधिकांश श्रेय आप ही को है। इस चरित्र के प्रति नायक(नेता)आप ही हैं। यदि कौन्सिल में आपने आयुर्वेद को अवैज्ञानिक तथा अनुपयोगी कहकर ललकारा न होता और समस्त आयुर्वेद-प्रेमियों के नाम खुला चैलेञ्ज दिया न होता तो शायद यह लिखा ही न जाता।

मेजर डॉक्टर साहब ने एक लम्बी वक्तृता दी थी। चरक, सुश्रुत से अपनी अभिज्ञता भी बताई थी। सीधे शब्दों में तो आपने आयुर्वेद को अवैज्ञानिक नहीं कहा, परन्तु एलोपैथी के सिवा और किसी को वैज्ञानिक (Scientific) नहीं माना। बात एक ही है। 'तीन बीसी और साठ' में कोई भेद नहीं है। हम आपकी स्पीच का सारभूत अंश नीचे उद्धृत करते हैं—

One hanourable member said that, there are thousands of books available on the Vedic system of medicine, but I challenge any honourable member in this House or even outside to produce one single book in any of those sciences dealing with pathology, miscroscopic anatomy, bacteriology or serum-therapy.

I may also inform this honourable House that it has made a difference even during the last 25 years. There were certain things which were taught to me which are now untaught and which are now believed to have been incorrect.

I appeal, to honourable members not to say that because we had those things which were right two thousand years ago they must be held to be right to-day when the rest of the world has progressed by leaps and bounds.

मेजर साहब ने स्पीच तो इतनी लम्बी दी कि बीच में प्रेसिडेण्ट को दो बार रोकना पड़ा, परन्तु सार सबका

यही है। एक तो आप कौन्सिल के मेम्बरों को तथा कौन्सिल से बाहर के समस्त आयुर्वेद-प्रेमियों को चैलेञ्ज देते हैं कि कोई एक भी पुस्तक पैथालोजी, अणुवीक्षण, कीटाणु-विद्या, या सूची वेध चिकित्सा (इंजेक्शन) पर दिखाई जाय। दूसरी बात यह कहते हैं कि २५ वर्ष पहले साइन्स ने जो बातें आपको सत्य सिद्धान्त के रूप में पढ़ाई थीं, वे आज नितान्त असत्य और भ्रम बताई जाती हैं। जब २५ वर्ष के भीतर ही इतना परिवर्तन हुआ है तो दो हज़ार वर्ष पहले जो बातें सत्य मानी जाती थीं, वे आज कैसे सत्य हो सकती हैं? वे वहाँ की वहीं स्थित हैं और अन्य संसार ज्ञान की दौड़ में हजारों मील आगे बढ़ चुका है। अब फिर से उन्हीं पुरानी सड़ी गली बातों के प्रचार के लिये ज़िद करना अनुचित है, बल्कि मूर्खता है। हम आपकी दोनों बातों पर यथा-क्रम विचार करेंगे।

पाठकगण, कल्पना कीजिये कि किसी रानी की समस्त रियासत को सरकार कोर्ट आफ् वाड्र्स के अधीन कर दे। उसके समस्त रत्नों पर, समस्त वस्त्रों और आभूषणों पर ताला डाल दे। उसे अपने मकान से बाहर निकलने बैठने की भी मनाही कर दे और बाहर के किसी आदमी से मिलने भेंटने की भी आज्ञा न दे। ऐसी दशा में कोर्ट का मैनेजर किसी ऐसी सभा में बैठकर जहाँ उसी के 'जी हुज़ूरों' की संख्या अधिक हो यदि उक्त रानी को चैलेञ्ज करे और यह कहे कि 'यदि वह सचमुच रानी है तो एक भी उत्तम रत्नों का डब्बा अपने पास दिखाये' तो बताइये कि आप उस चैलेञ्ज करनेवाले को क्या कहेंगे? 'नृशंस', क्रूर या और कुछ?

हम कह चुके हैं कि राजकीय सहायता के बिना शल्य-

चिकित्सा कहीं भी सफल नहीं हो सकती। जो ऐलोपैथ स्वतन्त्र रूप से चिकित्सा करते हैं, वे थोड़े दिनों में अपनी सर्जरी भूलने लगते हैं। सर्जरी में निपुण वे ही रहते हैं जो मेडिकल कॉलेजों या बड़े बड़े अस्पतालों में चीर फाड़ करते रहते हैं। कुछ इने गिने स्थानों को छोड़कर अधिकांश सरकारी अस्पतालों में भी रुधिरपरीक्षा, मूत्र-परीक्षा, कीटाणुवीक्षण आदि का कोई सामान नहीं रहता। युक्तप्रांत में ५ करोड़ के लगभग आबादी है। परन्तु डॉक्टरी के ये उच्चकोटि के सामान दो जगहों में ही हैं। जो डॉक्टर इन स्थानों में काम करते हैं उनके अतिरिक्त अन्य स्थानों के डॉक्टर लोग भी इनसे वञ्चित रहते हैं। फिर जो डॉक्टर ग्रामों में भेजे जाते हैं, वे तो इन विषयों में 'निपट अनारी' ही होते हैं। न उनके पास इस प्रकार का कोई सामान ही होता है, न उन्हें इस विषय का विशेष ज्ञान होता है। भारत ग्रामप्रधान देश है। फ़ीसदी ८५ आदमी गाँवों में ही रहते हैं। उनके लिये इस सामान का कोई उपयोग नहीं पहुँचता। हाँ, कुछ राजा, रईस लोग जो पानी की तरह पैसा बहा सकते हैं और बड़े बड़े शहरों में रहकर धुरन्धर डॉक्टरों की ख़ातिरदारी कर सकते हैं वे अथवा अँगरेज़ लोग इस साइन्टिफ़िक सामान का लाभ अवश्य उठाते हैं। भारत के अधिकांश डॉक्टर इसके उपयोग से वञ्चित हैं और अधिकांश जनता इसके लाभ से वञ्चित है।

यदि ऐलोपैथी को मिलनेवाली सम्पूर्ण सरकारी सहायता बन्द कर दी जाय, न ऐलोपैथी का कोई कॉलेज रहे, न डॉक्टरों को कोई मुर्दा चीरने का अधिकार रहे, जो शिक्षा दी जाय वह ऐसी भाषा (संस्कृत या शुद्ध

हिन्दी) में जिसे एक भी डॉक्टर न समझ सकता हो, शिक्षा के स्थानों में डॉक्टरों को घुसने की भी मनाही हो, चीर फाड़ आदि देखने की भी इन्हें आज्ञा न हो, लाश रखना देखना इनके लिये जुर्म हो, सरकार सदा इनसे घृणा करती रहे, इन्हें अयोग्य अप्रामाणिक कहती रहे, प्रतिष्ठित, प्रामाणिक और उत्तरदायित्व के पद सब अन्य चिकित्सकों को दे दिये जायँ, मतलब यह कि जो कुछ असुविधायें आज आयुर्वेद के चिकित्सकों को हैं, वे सब ऐलोपैथ लोगों के सामने खड़ी कर दी जायें फिर किसी ऐसी सरकार की कौन्सिल में, जोकि ऐलोपैथी का विरोध करना ही अपना कर्तव्य समझती हो, यदि यही चैलेञ्ज जो मेजर साहब ने आयुर्वेद के अनुयायियों को दिया है, उन्हें दिया जाय तो आपको इसका मज़ा मालूम पड़े।

'खूँटे के बल बकरा कूदा करता है'। यदि एक भी नादिरशाह या महमूद ग़ज़नवी ऐलोपैथी के सामने आ खड़ा हो, इसकी तमाम विज्ञानशालाओं को तोड़ फोड़ कर धूल में मिला दे और समस्त पुस्तकों से ६ महीने तक हम्माम गरम कराये तो मेजर साहब को इस चैलेञ्ज का मज़ा मालूम हो। संसार में ऐलोपैथी का कहीं ढूँढ़े निशान तक न मिले।

विपत्तियों में स्थिर रहना ही ईश्वरीय वरदान समझा जाता है। सम्पत्ति में इतराना तो कोई महत्त्व की बात नहीं है। आज ५ हज़ार वर्षों से आयुर्वेद इसी दुर्दशा में ग्रस्त है। आज उसके पास जो कुछ है उसका होना ही आश्चर्य है। खो जाना तो कोई आश्चर्य ही नहीं। परन्तु जो कुछ बचा है वह भी इतना है कि अन्य संसार 'ज्ञान की घुड़दौड़ में हजारों मील का धूल फाँक जाने पर भी' अभी वहाँ तक नहीं पहुँच पाया है।

विषय-सूची

जो सहायता आज सरकार से ऐलोपैथी को मिलती है यदि उससे आधी भी आयुर्वेद को दी जाय, आयुर्वेदिक ओषधियों की परीक्षा करने का पूरा अवसर दिया जाय, रोगिशालाओं और परीक्षाशालाओं का अच्छा प्रबन्ध कर दिया जाय और पश्चिमी साधना (कीटाणुवीक्षण आदि) के ज्ञान और उपयोग की सुविधा आयुर्वेदज्ञों के लिये कर दी जाय तो हम पूरी आशा करते हैं कि—अधिक नहीं—केवल दस ही वर्षों में आयुर्वेद के प्रेमी मेजर साहब के इस चैलेञ्ज का उत्तर अपने कामों से दे सकेंगे। केवल शब्दों में इसका उत्तर देना पर्याप्त नहीं है।

अब मेजर साहब की दूसरी बात पर ध्यान दीजिये। आपका कहना है कि साइन्स ने २५ वर्ष पूर्व जो बातें हमें पढ़ाई थीं, जब आज वे सब ग़लत हो गईं तो दो हज़ार वर्ष का पुराना आयुर्वेद आज कैसे सत्य हो सकता है? बात तो बड़ी मज़ेदार है। दृष्टान्त आप देते हैं अपनी पश्चिमी साइन्स का और निर्णय करते हैं प्राचीन (पूर्वीय) भारतवर्ष के लिये। आपकी दलील का तत्त्व यही है कि चूँकि पश्चिमी साइन्स अपने पिछले सिद्धान्तों को बराबर झूठा बता रही है इसलिये हज़ारों वर्ष का आयुर्वेद भी आज झूठा हो गया। मानो आयुर्वेद आपकी लुढ़कती हुई अन्धी और जड़ साइन्स के आधार पर ही बना है। आपकी मछलियाँ सड़ती हैं इसलिये पड़ोसी के रत्न भी सड़ जाना चाहिये? क्या माक़ूल दलील है!!! इस जगह आप यह भूल जाते हैं कि पूर्व और पश्चिम में सदा ३६ का सम्बन्ध रहा करता है। हम पूछते हैं कि किसी भटियारे की मछलियाँ तीसरे दिन सड़कर निकम्मी हो जाती हैं तो क्या जौहरियों

के रत्न भी तीसरे दिन सड़ जाया करेंगे ? किसी मच्छीमार को क्या अधिकार है कि वह अपनी सड़नेवाली मछलियों का दृष्टान्त देकर जौहरियों से रत्न फिकवाने की धृष्टता करे ? यही वह साइन्स है जिसकी नींव पर अवलम्बित होने के कारण ऐलोपैथी के सिद्धान्त 'अटल' बताये जाते हैं। (पृ० ४३ देखिये) हमें तो आश्चर्य इस बात पर है कि आप अपने को चरक, सुश्रुत का अभिज्ञ बताते हैं !! मालूम नहीं आपने उनमें क्या देखा है !!! शायद आप उन्हें आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व का बना समझते हैं। उम्मीद तो यही है कि वेदों को भी आप इसी के दो एक साल इधर उधर का बना समझते होंगे।

हम आपको चैलेञ्ज देते हैं कि आप साइन्स की स्थिरता और चरक के सिद्धान्तों की अस्थिरता सिद्ध करें। जिस साइन्स पर आपको इतना नाज़ है उसके विषय में आप यह सिद्ध करें कि आज वह जिन सिद्धान्तों को मान रही है कल भी उन्हीं को मानती रहेगी। जिसे वह आज सत्य कहती है उसे कल ही झूठा नहीं कहने लगेगी। अथवा आप यह सिद्ध कर दें कि दो हज़ार वर्ष पूर्व जो चरक के सिद्धान्त थे वे आज इस कारण से असङ्गत हो गये। पहले संसार सत्त्व, रजस्, तमस् से बना था, आज किसी और से बनने लगा। पहले वात, पित्त, कफ के लक्षण पञ्चतन्मात्राओं और मनुष्य की प्रकृतियों में मिलते थे पर आज कुछ और मिलने लगा। पहले की खाने पीने की वस्तुएँ वात, पित्त आदि के गुणों से युक्त होती थीं, पर आज नहीं रहीं। यदि आपको अपने चरक, सुश्रुत के ज्ञान पर भरोसा हो और अपनी साइन्स की दृढ़ता पर हिम्मत हो तो चाहे जब विचार करने को

प्रस्तुत हो जाइये। हम आपकी सेवा करने को सदा सन्नद्ध हैं।

मनुष्य और ईश्वर के ज्ञान तथा कृतियों में इतना ही तो भेद है। डॉक्टर साहब के घर का लैम्प हर हफ़्ते ख़राब हो जाता है और फिर से उसकी मरम्मत करानी पड़ती है तो क्या इसी दृष्टान्त के बल पर हर हफ़्ते सूर्य की भी मरम्मत कराना आवश्यक होगा? आपके घड़े में रक्खा हुआ पानी तीसरे दिन बू देने लगता है, इसलिये गङ्गोत्तरी की धारा का बदलना भी ज़रूरी होगा? आपका कमरा बन्द रहने से उसकी हवा ख़राब होती है तो क्या आकाशमण्डल की वायु को भी निकाल फेंकने की आप सलाह देंगे? आपकी साइंस तो स्थूल से सूक्ष्म पर जाने की चेष्टा करती है और द्रव्यों के द्वारा गुणों की परीक्षा का प्रयत्न करती है। इस कारण यह तो कभी स्थिर न होगी। सदा लुढ़कती ही रहेगी। यदि आप स्थिरता चाहते हैं तो भारतीयों की रीति पर विचार करना सीखिये। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिक वेदवाक्यों का समझना सीखिये। सूक्ष्म तत्त्वों के आधार पर स्थूल जगत् का विभाग करना सीखिये और जहाँ स्थूल जगत् की सीमा समाप्त होती है, जहाँ परमाणुओं या electrons की हद पार हो जाती है वहाँ ऋषियों, योगियों और ईश्वर के वाक्यों पर विश्वास करना सीखिये। अथवा स्वयं योगाभ्यास करके उन तत्त्वों का साक्षात्कार करना सीखिये। लुढ़कती हुई अन्धी और जड़ साइंस के सहारे आपको इन बातों का पता कभी न लगेगा।

वेदान्तसूत्र के दूसरे अध्याय, प्रथम पाद के ग्यारहवें

सूत्र—'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः'—पर भाष्य करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—"इतश्च नाऽऽगमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम् । यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति । उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्"

अर्थात् "मनुष्य की उत्प्रेक्षा (कल्पना) निरङ्कुश होती है अतः उसके आधार पर उत्पन्न हुए तर्क भी बराबर इधर से उधर लुढ़कते रहते हैं। एक जगह प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। इस प्रकार के अप्रतिष्ठित तर्कों के भरोसे 'आगम प्रमाण' से गम्य वस्तु का विरोध नहीं किया जा सकता।" आज इन्हीं तर्कों के सहारे मेजर साहब वैदिक सिद्धान्तों को चैलेञ्ज देने चले हैं! स्वयं काँच के महल में बैठकर आप पड़ोसी के घर पत्थर फेंकने पर उतारू हुए हैं!! यदि जवाब में उधर से भी पत्थर आया तो आपकी काँच की हवेली का क्या हाल होगा?

जब तक तर्क का कोई आधार न हो तब तक वह 'अप्रतिष्ठित' समझा जाता है। उसके आधार दो ही हो सकते हैं। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष या योगजन्य प्रत्यक्ष। इन्हीं के आधार पर किया हुआ तर्क या अनुमान साऽवलम्ब समझा जाता है। योगज प्रत्यक्ष के आगे साधारण जीवों के प्रत्यक्ष की अपूर्णता और हीनता की चर्चा हम कर चुके हैं। (पृ० ८, ९, १०) पश्चिमी साइंस में कुछ अंश इस अपूर्ण प्रत्यक्ष का है और कुछ इसी के आधार पर कल्पित तर्क हैं। आज इसी के भरोसे मेजर साहब वैदिक सिद्धान्तों को चैलेञ्ज देने चले हैं।

" I think it is unfortunate that the Present System

of medicine is called western system of medicine. I think the proper name that might be given to it should be the scientific system of medicine."

ऐलोपैथी को 'पश्चिमी चिकित्सा' कहनेवाले भारतीयों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाते हुए मेजर साहब फ़र्माते हैं कि उसे 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' कहना ही समुचित है।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि ऐलोपैथी का हरएक सिद्धान्त और प्रत्येक चिकित्साक्रम साइंस के आधार पर निर्धारित किया जाता है और दूसरे यह कि ऐलोपैथ लोग इसी कारण अपनी चिकित्सा पर घमण्ड भी करते हैं एवं उसके सिवा किसी भी चिकित्सापद्धति को Present System या वर्तमानकालोपयोगी चिकित्सा मानने को तैयार नहीं हैं। यह बात उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब बड़े बड़े ऐलोपैथ लोग अन्य चिकित्सा-पद्धतियों को 'अवैज्ञानिक' (unscientific) कहकर नाक मुँह चिढ़ाया करते हैं।

जब ऐलोपैथी साइंस की पिछलगू है तो उसकी भी वही दशा होना अनिवार्य है, जो साइंस की हो, और साइंस की जो दशा है, वह स्वयं मेजर साहब ने अपने श्रीमुख से बखानी है। आप यह बता चुके हैं कि जिन बातों को साइंस ने आज से २५ वर्ष पूर्व सत्य सिद्धान्त के रूप में पढ़ाया था वे ही आज उसके द्वारा मिथ्या-भ्रम बताई जा रही हैं !! इसका सीधा अर्थ यह है कि गत २५ वर्षों से लेकर अब तक जिन सिद्धान्तों के भरोसे साइन्टिफ़िक चिकित्सा लोगों के गले पर छुरी चलाया करती थी वे आज मिथ्या-भ्रम सिद्ध हुए !!! हम पूछते हैं कि इन 'मिथ्या-भ्रम'

सिद्ध होनेवाले अपने पिछले सिद्धान्तों के आधार पर ऐलोपैथी ने जिन जिन आदमियों की जान खतरे में डाली है, उसका ज़िम्मेदार कौन है ? क्या ऐलोपैथी को ईश्वर का कोई ऐसा वरदान है कि उसके भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों के आधार पर की हुई चिकित्सा से भी किसी को कुछ हानि न पहुँचे ? यदि नहीं, तो उसने आज तक जनता को जो हानि पहुँचाई है उसका उत्तरदाता कौन है ? क्या कोई ऐलोपैथ बता सकता है कि अनिश्चित और अस्थिर मतों के आधार पर उसे जनता के प्राणों को संकट में डालने का क्या अधिकार है ? क्या दुनिया में एक भी ऐलोपैथ या साइन्टिस्ट ऐसा है जो आज माने जानेवाले साइंस के सिद्धान्तों की अपरिवर्तनीयता का ज़िम्मा ले सके ? क्या मेजर साहब यह गॉरंटी (Guarantee) करने को तयार हैं कि उनकी साइंस आज जो सिद्धान्त मान रही है वे निर्भ्रान्त सत्य हैं ? वे कभी न बदलेंगे ? जिस तरह आपने कौन्सिल के तथा उससे बाहर के आयुर्वेद-प्रेमियों को चैलेञ्ज किया था उसी तरह हम आपको चैलेञ्ज करते हैं कि आप अपनी 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' की स्थिरता, अपरिवर्तनीयता और निर्भ्रान्तता सिद्ध करें। जिस साइंस के सहारे आप दुनिया को ललकारते हैं, जब वही बेपेंदी की हँडिया हो रही है तो आपकी क्या गति होगी ?

आप साइंस के आधार पर रेल चलाइये, तार लगाइये, टेलीफ़ोन और ग्रामोफ़ोन बनाइये, बिजली जलाइये, मोटर और जहाज़ चलाइये, बेलून उड़ाइये, बमगोले बरसाइये, तोपों और बन्दूकों से आग लगाइये, प्राणघातक गैसों से दम घोटिये, चाहे व्यापार कीजिये, चाहे शत्रु बनकर प्राण

लीजिये, परन्तु जो आपकी शरण में दीन, दुखी होकर आता है, जो आपका विश्वास करके आपके हाथ में अपने प्राण समर्पण करता है उसके साथ साइंस के नाम पर विश्वासघात तो न कीजिये। जिन सिद्धान्तों की स्थिरता और दृढ़ता पर आपको स्वयं विश्वास नहीं है, उन्हीं के आधार पर लोगों की चिकित्सा करना विश्वासघात नहीं तो और क्या है?

कल आपकी साइंस जिन बातों को सच बताती थी आज उन्हीं को झूठा बता रही है तो आज की बातों को कल फिर झूठा न कहने लगेगी इसका कैसे विश्वास किया जा सकता है? हम मेजर साहब को चैलेञ्ज करते हैं कि वह या तो यह सिद्ध करें कि उनकी साइंस अब अपने सिद्धान्तों को कभी न बदलेगी या फिर यह बतायें कि एक बुरे से बुरे विश्वासघाती को जो सज़ा दी जाती है उसी का अभियोग उनकी 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' पर क्यों न लगाया जाय? वह यह बतायें कि अनवस्थित साइंस के आधार पर उन्हें लोगों का प्राणसङ्कट उपस्थित करने का क्या अधिकार है? जब तक साइंस के सिद्धान्तों का परिवर्तन बन्द नहीं होता तब तक किसी चिकित्सा के साथ 'साइन्टिफ़िक' शब्द लगाना गर्व की नहीं बल्कि बड़ी लज्जा की बात है।

हमारी तो दृढ़ और निश्चित सम्मति यही है कि जब तक आयुर्वेद के जीर्ण शीर्ण और क्षीण अङ्गों का पुनरुद्धार न किया जायगा, जब तक इसके प्रच्छन्न ख़ज़ानों से गुप्त रत्नों के आविर्भाव का प्रयत्न न किया जायगा, जब तक पश्चिमी साधनों को आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार आयुर्वेदिक सिद्धान्तों का सहायक बनाकर उन्हें सर्वथा देशकालोपयोगी न बनाया जायगा, जब तक आयु-

वेंद के ऊपर होनेवाले अत्याचारों का मुँह बन्द न किया जायगा और जब तक आयुर्वेद के नाम पर ठगी करनेवाले ठगों का रास्ता न रोका जायगा तब तक संसार हितकर, निश्चित और निर्भ्रान्त चिकित्सा-पद्धति से वञ्चित ही रहेगा।

निम्नलिखित कारणों से हम पश्चिमी साइंस को 'काय-चिकित्सा' के अयोग्य समझते हैं।

१—पश्चिमी साइंस का आरम्भ द्रव्यों की परीक्षा से होता है। संसार में द्रव्य अनन्त हैं और उनकी सृष्टि भी बराबर जारी रहेगी अतः यह साइंस न कभी सम्पूर्ण औषधों का निश्चय कर सकेगी, न कभी सम्पूर्ण रोगों का पार पा सकेगी और न कभी चिकित्सा के उपयुक्त निश्चित तत्त्वों का निर्धारण कर सकेगी।

२—पश्चिमी साइंस प्रत्यक्ष और तर्क दो ही प्रमाणों पर अवलम्बित है। आगमप्रमाण को इसके यहाँ कोई स्थान नहीं है। आगमप्रमाण के लिये आप्तों की आवश्यकता है और आप्तत्व पूर्ण तभी होता है जब प्रत्यक्ष और अनुमान से बाहर की वस्तु का साक्षात्कार होने लगे। यह बात योगज ज्ञान, आर्ष दृष्टि, ऋतम्भरा प्रज्ञा और ईश्वरीय ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। साइंस के घर में इन बातों को कोई स्थान नहीं है अतः उसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा को पार नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा अति सङ्कुचित है (इसका वर्णन आरम्भ में ही हो चुका है) फलतः पश्चिमी साइंस का ज्ञान भी बहुत परिमित, सीमित और सङ्कुचित ही रहेगा।

३—पश्चिमी साइंस में गुणों के द्वारा द्रव्यों की श्रेणियों के निर्धारण की वह शैली नहीं है जैसी कि चरक आदि

महर्षियों ने निर्दिष्ट की है अतः उसे सांसारिक द्रव्यों के गुण, दोषों का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

४—पश्चिमी साइंस परमाणुओं के आगे नहीं बढ़ सकती क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा यहीं समाप्त हो जाती है अतः साइंस को संसार के मूल तत्त्वों का ठीक ठीक पता लगना असम्भव है।

५—पश्चिमी चिकित्सा में आत्मा और मन को कोई स्थान नहीं है, अतः उसे सम्पूर्णता प्राप्त होना सम्भव नहीं है।

६—पश्चिमी चिकित्सा में देश, काल, बल, प्रकृति, विकृति आदि की उन दिव्य परीक्षाओं का कोई प्रकार न है, न हो सकता है जिनका निर्देश चरक ने किया है—अतः सब प्रकार के रोगियों, सब प्रकार के रोगों, सब देशों, सब समयों और सब अवस्थाओं को ठीक ठीक और अलग अलग औषध व्यवस्था करने में वह (ऐलोपैथी) समर्थ नहीं हो सकती।

७—पश्चिमी साइंस ने समस्त संसार के निश्चित मूल तत्त्वों को पहिचानकर उनके गुणों को अब तक नहीं जान पाया है अतएव समस्त गुणवर्णन में वह असमर्थ है। इसी कारण, पथ्य, अनुपान आदि की रोगानुसारिणी या दोषानुसारिणी व्यवस्था देने में वह असमर्थ है। निदान और चिकित्सा के मार्ग में भी अभी साइंस अधूरी है और पश्चिमी चिकित्सा भी अधूरी है।

८—पश्चिमी साइंस जिन साधनों और उपायों से परीक्षा आरम्भ करती है, वे नितान्त अधूरे हैं अतएव आये दिन उसे अपने पिछले सिद्धान्तों को स्वयं झूठा कहना पड़ता है। जब तक यह 'ढुलमुल यक़ीनी' दूर न हो तब

तक साइंस चिकित्सा के मार्ग में अयोग्य रहेगी। जब तक पश्चिमी साइंस अपने सिद्धान्तों की स्थिरता और अपरिवर्तनीयता की घोषणा नहीं कर देती, तब तक उसकी पिछलगू पश्चिमी चिकित्सा (एलोपैथी) को अनिश्चित अव्यवस्थित और सन्दिग्ध निर्णयों के आधार पर चिकित्सा करके जनता के प्राणों को सङ्कट में डालने का कोई अधिकार नहीं है। जब साइंस स्वयं अपने पिछले सिद्धान्तों को झूठा बताया करती है तो उसके पीछे चलनेवाली चिकित्सा कैसे सत्य हो सकती है ?

९—पश्चिमी साइंस ने थर्मामेटर आदि जिन साधनों का आविष्कार किया है वे सूक्ष्म परीक्षा के उपयुक्त नहीं हैं। थर्मामेटर से ज्वर की असली इयत्ता का पता नहीं चलता और हलके (Below normal) ज्वर का तो उससे बिलकुल पता नहीं चलता अतः इसके अनुसार विश्वास रखनेवाले सदा धोखा खाते हैं, इस कारण 'पश्चिमी चिकित्सा' की रोगपरीक्षा, रोगिपरीक्षा आदि अधूरी हैं।

१०—भारत में जितना दूध पैदा होता है वह यदि प्रति मनुष्य बाँट दिया जाय तो तोले माशे का ही औसत पड़ता है और १० ग्रेन कुनैन की गरमी खुश्की शान्त करने के लिये कम से कम एक सेर दूध आवश्यक है। अनेक डॉक्टर ३० से ६० ग्रेन तक कुनैन की मात्रा एक दिन में झोंक देते हैं। भारत में इतना दूध नहीं होता जो यहाँ कुनैन के विष का सहन किया जा सके। इस दरिद्र, दुर्बल और दुग्धहीन देश में कुनैन का विष घातक है। यदि कोई चाहे तो भारत में खपनेवाली कुनैन की तोल के साथ यहाँ होनेवाले दूध की तोल का सच्चा अनुसन्धान करके मिलान

कर देखे। जब तक सरकार उतने दूध का (असली दूध का, विलायती डब्बे के नक़ली दूध का नहीं) प्रबन्ध नहीं कर देती तब तक ऐलोपैथी के द्वारा इस क़दर कुनैन का प्रयोग कराना अन्याय है।

११—ऐसी विशुद्ध आयुर्वेदिक दवायें मौजूद हैं जो कुनैन के दुर्गुणों से रहित हैं, विषैले प्रभाव से वर्जित हैं, उनमें दूध आदि की आवश्यकता नहीं होती और मलेरिया दूर करने में कुनैन की समानता कर सकती हैं। कुनैन के अधिक प्रयोग से जो घातक दोष पैदा होते हैं वे उनसे बिलकुल नहीं होते। यदि सरकार परीक्षा और प्रयोगों की सुविधा कर दे तो हम उनका परिणाम दिखाने को तयार हैं।

१२—डॉक्टर लोग हरएक चीज़ के लिये विलायत का मुँह ताका करते हैं। इनके लिये छुरी, काँटा, नश्तर, सुई से लेकर तमाम औज़ार, सब दवायें, यहाँ तक कि ज़ख्मों पर बाँधने की पट्टी और रुई तक विलायत से मँगानी पड़ती है। न ये कोई दवा बना सकते हैं, न विलायत से आई हुई किसी दूषित दवा को सम्हाल ही सकते हैं। जो चीज़ विलायत से जैसी आई है उसे उसी रूप में प्रयोग करने, बेच देने या फेंक देने के सिवा ये लोग कुछ नहीं कर सकते। इससे सिद्ध है कि ऐलोपैथ लोग विलायती दवाओं के एजेण्ट-मात्र हैं—जो भारत की आर्थिक दशा के लिये नितान्त घातक हैं। ये लोग भारतवर्ष रूपी गौ को दुहने में बछड़े का काम देते हैं। दो चार बूँद दूध इनके मुँह में जाता है और बाक़ी सब इनकी आड़ में विलायत के व्यापारी लोग उड़ाते हैं। यदि सरकार की विपुल सहायता न मिले और विलायती सामान मँगाना बन्द कर दिया जाय तो हिन्दुस्तान

के तमाम डॉक्टर लोग किसी दफ्तर में साधारण क्लर्की करने के सिवा और किसी मसरफ़ के न रहें।

१३—जब तक रोगी की प्रकृति, सात्म्य, बल आदिक न देखा जाय और रोग, दोष, दूष्य, देश, काल अवस्था आदि के बलाऽबल की विवेचना न की जाय एवं इन सबके साथ रोगी को दी जानेवाली दवा के प्रत्येक अङ्ग का मिलान करके इन सबका सामञ्जस्य न कर लिया जाय तब तक किसी को कोई दवा दे बैठना 'अन्धचिकित्सा' कहाती है। इसी कारण कोई अच्छा वैद्य किसी पेटेण्ट दवा को पसन्द नहीं करता। जिसने वह पेटेण्ट दवा चलाई है, वह यदि उसके सब तत्त्व बता दे तब तो और लोग भी उसे बना लें और जिस पैसा लूटने के उद्देश्य से उसने उसे चलाया है वह भङ्ग हो जाय अतः वह ऊपरी बातों से तारीफ़ के पुल बाँधता है और असली रूप को छिपाये रखता है, जिसके जाने बिना रोगी, रोग और औषध की प्रकृति का सामञ्जस्य करना असम्भव होता है। इसी कारण कोई अच्छा चिकित्सक पेटेण्ट दवा देना उचित नहीं समझता. परन्तु आज छोटे से बड़े तक सभी ऐलोपैथ डॉक्टर सैकड़ों पेटेण्ट दवाओं का धड़ाधड़ प्रयोग करते हैं। भारत में एक भी ऐसा ऐलोपैथ न निकलेगा जो विलायत की पेटेण्ट दवाओं का प्रयोग न करता हो या उन सबको बनाके दिखा सकता हो। यह एक ही बात ऐलोपैथी चिकित्सा की अपूर्णता, हेयता, हीनता और अन्धता सिद्ध करने को काफ़ी है।

१४—ऋषियों ने लिखा है कि जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न हुआ है उसी देश की जलवायु में उत्पन्न ओषधि उसे हितकर होती है। विलायत में भी जलवायु की अनु-

कूलता का प्रश्न अनेक बार उठता है। इँगलैण्ड और फ्रांस में केवल २५-३० मील का अन्तर है, परन्तु अनेक अवसरों पर फ्रांस के डॉक्टर इँगलैण्ड की बनी दवा को और इँगलैण्ड के डॉक्टर फ्रांस की बनी दवा को यह कहकर हटा देते हैं कि यहाँ उस देश की 'क्लाइमेट' (जलवायु) 'सूट' (अनुकूलता) नहीं करती। परन्तु भारत में यह प्रश्न कभी नहीं उठाया गया। चाहे जर्मनी की बनी दवा हो चाहे इँगलैण्ड की, जापान की हो या अमेरिका की, भारतीयों के शरीर में सब देशों की 'क्लाइमेट' सूट कर जाती है। इससे स्पष्ट है कि एलोपैथी के प्रचार में व्यापारिक दृष्टि और अर्थशोषण नीति से भी काम लिया जाता है।

१५—पश्चिमी साइन्स का उच्च कोटि का सामान न तो सब डॉक्टरों के पास रहता है, न सर्वसाधारण जनता को इससे कुछ लाभ होता है। ५ करोड़ की जनता—यू० पी०—में केवल आगरा और लखनऊ के कॉलेजों में यह सामान है। इससे लाभ या तो अंग्रेज़ों को होता है या फिर उन लोगों को जो पानी की तरह पैसा बहा सकते हैं। ५ रु० पेशाब की परीक्षा के लिये, १० रु० पाखाने की परीक्षा के लिये और १० रु० रुधिरपरीक्षा के लिये चाहिये। यदि एक बार में काम न हुआ तो फिर दिखाइये। दवा से पहले बीमारी का निश्चय कराने के लिये ही ५०) चाहिये। भारत के आदमियों में—जहाँ प्रति मनुष्य की दैनिक आय कुछ पाइयों पर ही समाप्त है—ऐसे कितने निकलेंगे जो इतना खर्च बर्दाश्त कर सकें ? भारत ग्राम-प्रधान देश है। यहाँ फ़ी सदी ८५ आदमी ग्रामों में ही रहते हैं और गाँवों में जो डॉक्टर—सब असिस्टेण्ट सर्जन—

भेजे जाते हैं वे इन विषयों में एकदम 'अनभिज्ञ' होते हैं। अतः भारत की सर्वसाधारण जनता को इन सामानों से कोई लाभ नहीं है। उसका रुपया जो इन सामानों के लिये बहाया जाता है वह एकदम व्यर्थ है। उसके लिये उसके रुपये से देशी औषधों का प्रबन्ध जितना सुगम, सुलभ और हितकर हो सकता है उतना विलायती सामान कदापि नहीं हो सकता।

१६—पश्चिमी साइंस के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह आयुर्वेद की तरह भूत, भविष्यत्, वर्तमान के समस्त रोगों, औषधों और पथ्यों का निर्णय कर सके। किसी नये रोग के आविर्भूत होने पर पश्चिमी चिकित्सकों के हाथ पैर फूलने लगते हैं। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वे जनता को हानि पहुँचाये बिना उस नवीन रोग का प्रतीकार पा सकें। पिछले दिनों इन्फ्लूएन्ज़ा में यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसमें भारत के एक करोड़ के लगभग लोग स्वाहा हो गये, पर ऐलोपैथी के किये कुछ न बना। आयुर्वेदिक चिकित्सा से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक लाभ हुआ।

१७—अनवस्थित साइंस के आधार पर लोगों की चिकित्सा करना एक प्रकार का विश्वासघात है।

१८—साइंस जड़ साधनों के द्वारा जड़ वस्तुओं पर जो परीक्षायें करती है उन्हीं का ऐलोपैथी चेतन प्राणियों पर आँख मींचकर प्रयोग करना शुरू कर देती है। परन्तु चेतन प्राणियों को हानि पहुँचाये बिना वह उन पर होनेवाले प्रभाव का निर्णय करने में असमर्थ है। जिस तरह साइंस एक नली में मलेरिया के कीड़े भरकर कुनैन के द्वारा उन्हें

मारकर दिखा देती है उसी तरह बुखार के ऊपर कुनैन का प्रभाव दिखानेवाली कोई नली उसके पास नहीं है अतः काय-चिकित्सा के मार्ग में साइंस अधूरी है।

१६—जो चिकित्सा-पद्धति किसी वस्तु के गुण, दोष और दोषों से उत्पन्न होनेवाले विकारों का परिहार नहीं बता सकती वह अपूर्ण है। चरक से जिस प्रकार कुनैन के गुण, उसके दोष और उसके दोषों से उत्पन्न होनेवाले विकारों को शान्त करने का मार्ग परिज्ञात होता है उस प्रकार का ज्ञान करानेवाली कोई ट्यूब साइंस के पास नहीं है अतः पश्चिमी साइंस काय-चिकित्सा के अयोग्य है।

२०—जब तक साइंस के सिद्धान्तों का परिवर्तन बन्द नहीं होता तब तक किसी चिकित्सा-पद्धति के साथ 'साइन्टिफ़िक' शब्द जोड़ना गर्व की नहीं बल्कि लज्जा की बात है, क्योंकि 'साइन्टिफ़िक चिकित्सा' का अर्थ होता है 'अनिश्चितचिकित्सा', 'सन्दिग्धचिकित्सा', 'भ्रान्त-चिकित्सा' और 'अपूर्णचिकित्सा'।

२१—(क) बहुत से रोगी ऐसे होते हैं जिन्हें ज्वर आदि भी होता है और कोई फोड़ा फुंसी भी होता है। वैद्य लोग सर्जरी में एकदम कोरे होते हैं अतः फोड़े के लिये किसी डॉक्टर का बुलाना आवश्यक होता है। ऐसी दशा में कुछ तो खर्च के ख़याल से और कुछ दो चिकित्सकों की दवा में विरुद्ध प्रभाव हो जाने के भय से रोगी को अपनी इच्छा के विरुद्ध ज्वर आदि की दवा भी डॉक्टर से ही लेनी पड़ती है। सरकार की अपूर्व कृपा के कारण न वैद्यों को सर्जरी का ज्ञान होने पाता है न इनका कोई दृढ़ संगठन होने पाता है। इसी कारण भारत के रईसों के बड़े बड़े दानों की औषधसम्बन्धी

रक़में भी ऐलोपैथी के पेट में ही समा जाती हैं जो उसके प्रचार और विस्तार का कारण बनती हैं।

(ख)—बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो दवा तो किसी वैद्य की खाते हैं, परन्तु नौकरी जाने के भय से बीमारी का सर्टि-फ़िकेट लेने सिविलसर्जन साहब के पास जाते हैं और साहब की नाराज़गी के भय से दवा भी शफ़ाखाने से लाते और घर आके फेंक देते हैं। इन बातों से साधारण जनता में ऐलोपैथी का अनुचित महत्त्व बढ़ता है।

(ग)—यदि कोई अँगरेज़ या अधगोरा हिन्दुस्तानी दवा करे, तो उसकी नौकरी में भी बखेड़ा पड़े और बिरादरी (क्लब) से भी निकाला जाय। अत्यन्त दुखी होने पर ऐसे कई लोग देसी दवायें चोरी से करते हैं और साथ ही बड़ी नम्रता से यह प्रार्थना भी करते जाते हैं कि उनकी बात किसी को विदित न हो। सरकार ने ऐलोपैथी को जो अनुचित महत्त्व दे रक्खा है उसी का यह परिणाम है। यदि वैद्यों को सर्जरी का ज्ञान हो जाय और धर्मप्राण भारतीयों को यह ज्ञान हो जाय कि पश्चिमी चिकित्सा में गौ, सुअर, शराब आदि की सर्वपथीन कर्मनाशा बहा करती है एवं अँगरेज़ों की तरह सुसंगठित हिन्दुस्तानी लोग भी यह नियम कर दें कि जो हिन्दुस्तानी आदमी अँगरेज़ी दवा खायेगा वह बिरादरी से भी निकाला जायगा और नौकरी से भी बरख़ास्त कर दिया जायगा, तो निःसन्देह दो ही दिन के अन्दर पश्चिमी चि-कित्सा को यहाँ से 'सात समुन्दर पार' भाग जाना पड़े।

आयुर्वेद के नाम खुला चैलेञ्ज देनेवाले मेजर डॉक्टर रनजीतसिंह साहब बहादुर या आयुर्वेद की समस्त पुस्तकों को समुद्र में डुबा देने की 'नेक सलाह' देनेवाले साहब

बहादुर अथवा यू० पी० कौन्सिल में आयुर्वेदिक साइंस का मज़ाक़ उड़ानेवाले डॉक्टर अंसारी साहब किंवा अन्य कोई ऐलोपैथ साहब यदि हमारे इन आक्षेपों का समाधान करने का साहस करेंगे, तो इसके आगे हम कुछ और भी पूछेंगे।

अब हम पाठकों का ध्यान फिर उसी ऋचा की ओर दिलाना चाहते हैं जो हमारे इस निबन्ध का प्रधान तत्त्व है—

त्रि नो अश्विना दिव्यानि भेषजा-
त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्त मद्भ्यः।
ओमानं शंयो ममकाय सूनवे-
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती, (ऋग्वेद १।७।३४।६)

इस ऋचा के प्रधान शब्दों में से 'त्रिधातु' और 'शर्म' पर हम थोड़ा बहुत विचार कर चुके। इसका अक्षरार्थ करते समय 'ओमानं' का अर्थ रक्षा और 'शंयु' का अर्थ कल्याण हमने लिखा है। 'ओमानं' ओमन् शब्द का रूप है और 'ओमन्' में अव् धातु से मनिन् प्रत्यय हुआ है। अव् धातु का अर्थ है रक्षा। जो रोग आनेवाला है वह न आये और जिन घातक कीटाणुओं (Germs) का वर्णन आगे आयेगा, उनका आक्रमण सफल न हो तथा जो रोग जा चुका है वह फिर से न लौटे इसके लिये जो कुछ उपाय किये जाते हैं वे 'ओमन्'=रक्षा (Precaution) कहाते हैं। और जो रोग उत्पन्न हो गया है उसको शान्त करने के कल्याणकारी उपाय 'शंयु' कहाते हैं। 'शंयु' शब्द में 'शम्' से 'यु' प्रत्यय हुआ है। इसका अर्थ है सुखकारी। निरुक्त में लिखा है। 'शंयुः=सुखंयुः'—'अथानः शंयोररपो दधात।' (४।३।५)

देवगुरु बृहस्पति के पुत्र का नाम भी 'शंयु' है। ऐति-

हासिक पक्ष में इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। निरुक्त में लिखा है—'अथाऽपि शंयुर्बार्हस्पत्य उच्यते'—'तच्छंयोरावृणीमहे' इत्यादि (४ । ३ । ५)

वेदों के ऐतिहासिक पक्ष का प्रभाव आयुर्वेद पर भी पड़ा है दक्ष के अपमान से क्रुद्ध रुद्र के निःश्वास से ज्वर की उत्पत्ति बतानेवाली कथा का समन्वय इसी पक्ष में होता है।

यहाँ तक तो हुई इस ऋचा के उत्तरार्द्ध की बातें। अब इसके पूर्वार्द्ध पर विशेष रूप से ध्यान दीजिये। अश्विनीकुमारों की चर्चा हम चला चुके हैं। उन्हीं से इसमें तीन प्रकार की औषध माँगी गई है। दिव्य, पार्थिव और जलीय। वेदार्थ करने की प्रक्रिया में यह हम बता चुके हैं कि द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीलोक के भेद से वेदमन्त्रों के तीन तीन अर्थ होते हैं। आदित्यलोक में होनेवाली वस्तुएँ दिव्य (द्युलोकसम्बन्धी) कहाती हैं, बादलों के रहने के स्थान (अन्तरिक्षलोक) की वस्तुएँ जलीय कहाती हैं और पृथिवी पर पैदा होनेवाली अथवा जिनमें पृथिवी का भाग अधिक है वे पार्थिव कहाती हैं। अब यहाँ सोचना यह है कि पृथिवी पर की ओषधियाँ माँगना तो ठीक है। यहाँ जड़ी बूटी आदि होती है। परन्तु सूर्यलोक और मेघलोक की ओषधियाँ किसे और कैसे मिलेंगी ? वहाँ ओषधियों के होने में भी तो सन्देह है। निराधार आकाश में बूटियाँ कहाँ लटकेंगी ? और फिर प्रचण्ड मार्तण्ड के प्रलयकारी अग्निकुण्ड में बूटियों की सत्ता ?

वैदिक सिद्धान्तानुसार संसार में तीन ही रोग होते हैं और उनके तीन ही उपाय (चिकित्सा) होते हैं एवं तीन ही लोकों और तीन ही देवताओं के साथ इनका सम्बन्ध होता है।

पूर्वोक्त तीन धातुओं (वात, पित्त, कफ) की विषमता का नाम रोग है। जब तक इनकी साम्यावस्था रहती है तब तक आरोग्य रहता है। इनमें विषमता होते ही शारीरिक या मानसिक कोई कष्ट होने लगता है। जो कष्ट देखने या सुनने में आता है वह असली रोग नहीं है बल्कि असली रोग की सूचना देनेवाला दूतमात्र है। जैसे बन्द मकान में बाहर से धुआँ देखकर भीतर लगी अग्नि का अनुमान होता है इसी प्रकार बाहरी कष्टों से शरीर के भीतरी रोग की सूचना मिलती है। यह रोग वही धातुवैषम्य है। यह वैषम्य तीन ही प्रकार से पैदा होता है। १ शरीर के भीतर किसी अहितकारी वस्तु के पहुँच जाने से—२ शरीर के भीतर की किसी हितकारी वस्तु के बाहर निकल जाने से—३ शरीर के धारक तथा पोषक अंशों में स्थिरता न रहने अर्थात् शिथिलता आ जाने से। ये ही तीन मूल रोग हैं। इन तीनों के तीन ही उपाय हैं जिन्हें वेद और आयुर्वेद में कर्षण, बृंहण और आस्थापन के नाम से पुकारा जाता है।

कर्षण शब्द का अर्थ है किसी वस्तु को खींचकर बाहर निकालना, बृंहण का अर्थ है किसी वस्तु को बढ़ाना और आस्थापन शब्द का अर्थ है वर्तमान वस्तु में स्थिरता पैदा करना। जब आयुर्वेदिक सिद्धान्त के अनुसार रोग का निदान कर लेने पर वैद्य यह निश्चय कर लेता है कि रोगी के शरीर में किसी बाहरी वस्तु के पहुँच जाने से कष्ट उत्पन्न हुआ है तो वह कर्षण चिकित्सा आरम्भ करता है—अर्थात् रोगी के शरीर से उस अहितकारी वस्तु को बाहर निकालने की चेष्टा करता है। सबसे पहले वह यह देखता है कि अहितकर वस्तु शरीर के किस भाग में है? फिर यह सोचता है कि

शास्त्र ने उसके निकालने का क्या उपाय बताया है और रोगी उस उपाय के योग्य है या नहीं? यदि शरीर के ऊपरी हिस्से में कफ की अधिकता है तो वमन (क़य) कराना उचित है, परन्तु जिसकी आँखों में तिमिररोग है, उसे वमन नहीं कराया जायगा। एवं गुल्मरोगी, उदररोगी, दुर्बल, अतिवृद्ध, गर्भिणी, स्थूल पुरुष, व्रण या चोट से युक्त, नशेबाज़, बच्चा, रूक्षप्रकृति, भूखा, उदावर्तरोगी, नाक, या मुँह से जिसे खून आता हो, जिसे कठिनता से वमन होता हो, पाण्डुरोगी, कीड़ों का रोगी आदि अनेक रोगी ऐसे हैं जिन्हें वमन के अयोग्य समझा जाता है। परन्तु विशेष आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी विशेष रीतियों से वमन कराने का विधान शास्त्रों में है।

इसी प्रकार पसीना निकालकर और फ़स्द खोलकर भी कर्षण चिकित्सा की जाती है। वस्ति या अमल के द्वारा भी कर्षण होता है। शिरोविरेचन आदि अन्य उपायों से भी कर्षण होता है। मतलब यह कि शरीर के भीतर से अहित-कारी वस्तु को निकालने के लिये जो कुछ किया जाता है वह सब कर्षण चिकित्सा के अन्तर्गत है। और शरीर के भीतर घटे हुए रुधिर, मांस, चर्बी आदि के बढ़ाने के लिये जो कुछ किया जाता है वह सब बृंहण है एवं जल्दी जल्दी क्षीण होते हुए शरीर के स्थिर करने के लिये जो कुछ किया जाता है वह सब आस्थापन है। (आस्थापन वस्ति और चीज़ है) अनेक आचार्य इस तीसरे विभाग (आस्थापन) को अलग नहीं मानते, बृंहण के ही अन्तर्गत मानते हैं परन्तु कई कारणों से इसे अलग मानना ही उचित है।

इन तीन प्रकार की चिकित्साओं के अधिपति देवता भी तीन हैं। आकाश, पाताल की समस्त वस्तुओं में इन्हीं की

* इति *

शक्ति काम करती है। पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तु में भी इन्हीं तीन देवताओं का साम्राज्य है। इनका नाम है सूर्य, चन्द्रमा और वायु। सूर्य तमाम संसार से रस खींचता है। इसका प्रधान काम ही कर्षण है। जिस वस्तु में आग्नेय गुण अधिक हैं, गरमी प्रधान है और शरीर से खींचकर रस को बाहर निकालने की शक्ति है उस उष्णवीर्य, तीक्ष्ण वस्तु का सम्बन्ध सूर्य-देवता से है। और जो वस्तुएँ सूर्य की किरणों को अपने में अधिक खींच सकती हैं एवं उन्हें अपने भीतर रोक भी सकती हैं वे सब भी आग्नेय तैजस या सूर्यदैवत कहाती हैं। शान्ति देनेवाली, बल बढ़ानेवाली एवं तृप्त करने-वाली वस्तुओं का सम्बन्ध चन्द्रमा से है और शरीर जिस दशा में है उसे उसी दशा में रोके रखनेवाली क्रियाओं या वस्तुओं का सम्बन्ध वायु से है।

पृथ्वी पर जितनी भी वस्तुएँ मिलती हैं उन सबमें इन्हीं तीन देवताओं का अखण्ड साम्राज्य है। जिसमें सूर्य के गुणों की प्रधानता है उसमें तीक्ष्णता, उष्णता और भीतर के रस आदि को बाहर निकालने की विशेष शक्ति है, जैसे जमालगोटा। जिसमें चन्द्रमा के गुणों की प्रधानता है उसमें शान्ति, शक्ति और तृप्ति करनेवाले गुण हैं जैसे अंगूर और अनार। शरीर और मन को एक दशा में रोके रखनेवाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। प्राण एक प्रकार के वायु का ही नाम है। प्राणायाम की क्रिया का सम्बन्ध प्रधानतया वायु से ही है। शिलाजीत आदि रसायन द्रव्य भी आस्थापन समझे जाते हैं। किन्हीं आचार्यों का मत है कि सुखाना वायु का प्रधान गुण है। और सुखानेवाले रूक्ष, शीत, लघु द्रव्यों का सम्बन्ध वायु से है। आस्थापन करना चन्द्रमा

का ही काम है, वायु का नहीं। बृंहण का एक भेद ही आस्थापन है।

वेदों ने इन्हीं तीन देवताओं में समस्त ओषधियों और सम्पूर्ण रोगों को दूर करने की शक्ति का वर्णन किया है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि अग्नि का अन्तर्भाव सूर्य देवता में है और जल चन्द्रमा के अन्तर्गत है।

नीचे लिखे मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि यक्ष्मा को दूर करने में विशुद्ध वायु परम आवश्यक है। समुद्र और पर्वत तथा मरुस्थल की वायु विशेष रूप से उपादेय है। जिस प्रकार 'द्वासुपर्णा' इत्यादिक मन्त्र में सूर्य की किरणें दो प्रकार की बताई गई हैं उसी प्रकार वायु के भी दो अंश होते हैं। एक बल देता है, दूसरा रोग दूर करता है। पश्चिमी साइन्स ने अभी इसकी विवेचना नहीं कर पाई है। देखिये—

'द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः' ॥ २ ॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥
आत्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ४ ॥
(अथर्व ४ । १३)

अर्थात् हे रोगी, 'सिन्धु' (समुद्र) और 'परावत्' (रूक्ष-स्थल या पर्वत) से दो प्रकार के वायु तेरे लिये आ रहे हैं। एक तुझे बल देगा और दूसरा तेरे रोग को दूर करेगा ॥२॥ 'दक्ष' शब्द का अर्थ है बल और 'रप' का अर्थ है रोग।

'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः, शमनं च रोगाणाम् यावनञ्च भयानाम् ' (निरुक्त ४ । ३ । ५)

हे वायु तुम 'विश्वभेषज' हो। समस्त ओषधियाँ (रोग दूर करनेवाली शक्तियाँ) तुममें विद्यमान हैं। तुम देवताओं के दूत हो। इस रोगी के लिये तुम भेषज—औषध-रूप—हो जाओ और इसके 'रप'—रोग—को दूर करो ॥३॥ हे रोगी, मैंने तुझे बल देनेवाली (शंताति) और रोग दूर करनेवाली (अरिष्टताति) सामग्री से सम्पन्न किया है। तुझमें 'उग्रदक्ष' (अच्छा बल) पैदा कर दिया है और तेरे यक्ष्मरोग को भगा दिया है ॥ ४ ॥

'वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ।' (ऋग्वेद ८।८।४४।१)

'वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नो हृदयाय प्रवर्धयतु च न आयुः' (निरुक्त १० । ३५)

इस ऋचा में वायु को हृदय के रोगों या हृदयाधिष्ठान (छाती) के रोगों को दूर करके आयु बढ़ानेवाला औषध (भेषज) बताया है और उसकी दो विशेषताओं—'शम्भु' और 'मयोभु'—का उल्लेख किया है। 'मय' शब्द 'डुमिञ्' धातु से बना है। इसका अर्थ है 'प्रक्षेपण'=फेंकना। शरीर के भीतर विद्यमान रोग या विष को बाहर फेंककर या बाहर से आक्रमण करनेवाले कीटाणुओं को हटाकर आरोग्य या सुख पैदा करनेवाले उपाय का नाम 'मयोभू' और शरीर को बल देकर आरोग्य या सुख पैदा करनेवाले साधन का नाम 'शम्भू' है। यद्यपि व्याख्याकारों ने 'शम्' और 'मय' दोनों का अर्थ सुख ही लिखा है, परन्तु यदि इनमें कुछ विशेषता न हो

तो दो शब्दों का उपादान ही व्यर्थ हो जाय और पुनरुक्ति-दोष आये । अथर्ववेद के पूर्वोक्त मन्त्र के साथ मिलाकर देखने से वायु की दोनों शक्तियों का इस ऋचा में भी स्पष्ट पता चलता है ।

निम्नलिखित मन्त्रों में सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि और जल की रोगनाशक शक्तियों का उल्लेख है ।

'अपचितः प्रपतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु' (अथर्व ६।८३।१)
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशम्भुव मापश्च विश्वभेषजीः ॥ २० ॥
अप्स्वन्तरमृत मप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये ।
देवाभवत वाजिनः ॥ १६ ॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ २१ ॥ (ऋक् १ । २३)

इनमें से पहली ऋचा में सूर्य और चन्द्रमा को आरोग्य-दाता बताया है । दूसरी, तीसरी तथा चौथी में चन्द्रमा और जल की सजातीयता एवं अग्नि और जल के भीतर रोगनाशक शक्तियों की सत्ता बताई गई है । साथ ही ओषधियों में अग्नि, जल, सूर्य और चन्द्रमा की सजातीयता बताई गई है ।

चरक में भी तीन ही प्रकार की ओषधियों का उल्लेख किया है— "न ह्यतिबलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौषधान्यग्निक्षार-शस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्" (च०विमा०८अ०) इसमें आग्नेय, सौम्य और वायवीय औषधों की चर्चा है । अग्नि, जल अथवा अग्नि, सोम या सूर्य, चन्द्रमा ए

ही बात है। अग्नि और पित्त, सोम और कफ एक ही वस्तु हैं। फलतः उक्त तीनों देवताओं का सम्बन्ध वात, पित्त और कफ से है। पूर्वोक्त ऋचा में जिन तीन दिव्य, तीन जलीय और तीन पार्थिव औषधों का उल्लेख है उनके तीन तीन भेद इन्हीं तीन देवताओं के आधार पर किये जाते हैं। वात, पित्त, कफात्मक होने के कारण दिव्य, जलीय तथा पार्थिव औषध तीन तीन प्रकार की होती हैं।

दिव्य औषध कौन हैं ? निरुक्त के अनुसार द्युलोक या आदित्यलोक एक ही वस्तु है और आदित्य (सूर्य) की किरणें ही दिव्य औषध हैं। धूप में बैठाकर या सूर्य की किन्हीं विशेष रङ्ग या शक्ति की किरणों को रोगी के शरीर में पहुँचाकर जो चिकित्सा की जाती है वह दिव्य चिकित्सा है। सूर्य की किरणों से साक्षात् प्रभाव का आकर्षण करने में योगी लोग ही विशेष निपुण होते हैं।

किसी विशेष रङ्ग की शीशी में पानी भरकर उसे सूर्य की विशेष किरणों द्वारा प्रभावित करके जो चिकित्सा की जाती है वह रश्मिचिकित्सा या दिव्य चिकित्सा का एक छोटा सा अंशमात्र है।

यह बात वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं कि हीरा आदि रत्नों की उत्पत्ति सूर्य की किरणों के द्वारा ही होती है। सूर्य की भिन्न भिन्न किरणों में भिन्न भिन्न प्रभाव होता है। रत्नों में ये रङ्ग भी स्पष्ट प्रतीत होते हैं और उनके प्रभाव भी रोगियों पर बहुत शीघ्र एवं आश्चर्यजनक होते हैं। जिस वस्तु ने हज़ारों वर्ष तक सूर्य की किरणों को अपने में विलीन किया है, उसकी शक्ति का क्या कहना है? हीरा इसी प्रकार का रत्न है। यह सूर्य की समस्त किरणों को अपने

में विलीन कर लेता है और इसकी भस्म में जो शक्ति है उसका चमत्कारजनक फल आदमी को आश्चर्यचकित कर देता है। अन्य रत्नों की भी यही दशा है। मोती पर जल या सोम (चन्द्र) का विशेष प्रभाव है। उसमें गुण भी वैसे ही हैं।

सोना और चाँदी भी तैजस हैं परन्तु इन पर प्रभाव डालनेवाली सूर्य की किरणें एक नहीं हैं। अथ च इनका पार्थिवभाग रत्नों के सदृश उत्कृष्ट नहीं है इसलिये इनकी भस्म का प्रभाव भी भिन्न भिन्न है और रत्नों की अपेक्षा नीचे दर्जे का भी है। लोहा, ताँबा, राँगा, जस्ता आदि की भी इसी प्रकार मीमांसा की जाती है।

सारांश यह कि जिन जिन वस्तुओं में सूर्य की किरणों का विशेष प्रभाव है—जिनकी उत्पत्ति में अग्नि, तेज या सूर्य की शक्तियों का विशेष आधार है उनके द्वारा की गई चिकित्सा दैवी चिकित्सा कहाती है और उन औषधों का नाम 'दिव्य भेषज' है। पूर्वोक्त ऋचा में 'दिव्यानि भेषजा' शब्द से इन्हीं की ओर सङ्केत है।

आयुर्वेद में इन्हीं दिव्य औषधों को 'रस' कहते हैं। इनकी मात्रा बहुत कम होती है, चावल आधा चावल ही होती है और स्वाद (कड़वा, कसैला) कुछ होता नहीं, एवं फल अति शीघ्र तथा अति चमत्कारक होता है इस कारण जड़ी बूटियों की अपेक्षा रसों का आयुर्वेद में महत्त्व अधिक है। अनुपानभेद से एक ही रस ४०-४० रोगों में दिया जा सकता है और जितना पुराना हो उतना ही अच्छा समझा जाता है। जड़ी बूटियों की तरह साल दो साल में निकम्मा नहीं होता इस कारण इसका महत्त्व अधिक है। इसी का नाम दिव्य औषध और इसी का नाम दिव्य चिकित्सा है। आयुर्वेद में लिखा है—

न दोषाणां न रोगाणां न पुंसां च परीक्षणम् ।
न देशस्य न कालस्य कार्यं रसचिकित्सिते ॥ १ ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो न जानाति रसं यदा ।
सर्वं तस्योपहासाय धर्महीनो यथा बुधः ॥ २ ॥
अनुपानै रसा योज्या देशकालानुसारिभिः ।
दोषघ्नैर्मधुना वापि केवलेन जलेन वा ॥ ३ ॥

अर्थात् रसचिकित्सा में दोषभेद, रोगभेद, पुरुषभेद, (प्रकृतिभेद) देशभेद और कालभेद विशेष बाधक नहीं होते क्योंकि अनुपानों के द्वारा रसों की शक्ति में परिवर्तन करना सुकर है । यदि कहीं अन्य अनुपान न मिलें तो शहद, यदि शहद भी न मिले तो केवल जल के साथ दिया जा सकता है । जो वैद्य सम्पूर्ण शास्त्र (आयुर्वेद) के तत्त्वों को जानता है, परन्तु रस बनाना नहीं जानता वह उपहास्य होता है ।

रसों का बनाना भी बहुत कठिन है । सबसे पहले असली ओषधियों का मिलना मुश्किल । फिर जिन रत्न, उपरत्न, धातु, उपधातु आदि के जो लक्षण शास्त्रों में लिखे हैं उनका ठीक ठीक मिलना कठिन । आज वसन्तमालती तो सभी वैद्य बनाते हैं परन्तु उसका प्रधान अङ्ग—खपरिया—बहुत कम लोगों ने देखा होगा । प्रायः खपरिया के नाम से मिलनेवाली एक मिट्टी लोग डाल देते हैं । और उससे आशा करते हैं उतने ही लाभ की जितना ग्रन्थकारों ने लिखा है । जङ्गली जड़ी बूटियों के ज्ञान के नाम सिफ़र ! अधिकांश वैद्य लोग अत्तारों के भरोसे चिकित्सा चलाते हैं । अत्तार लोग यदि किसी कारण अएट सएट दवा बाँध दें तो उसे बहुत से चिकित्सक तो पहिचान भी न

सकेंगे। रसों के बनाने में अनेक बूटियों की भावना देनी पड़ती है, जो बाज़ार में नहीं मिलतीं अतः रसवैद्य के लिये वनस्पतिज्ञान बहुत आवश्यक है।

अब रही शुद्धि। जिस वस्तु को फूँककर रस तयार करना है, उसे शुद्ध करना नितान्त आवश्यक है। जो रस अमृत के तुल्य काम करता है वही यदि विना शुद्ध की हुई वस्तु से बनाया जाय तो हलाहल विष हो जाता है। जो रस कोढ़ की अमोघ औषध है वही यदि अशुद्ध वस्तु से बनाया जाय तो अच्छे भले आदमी को भी 'कुष्ठं मण्डलकं कृत्वा मारयत्येव निश्चितम्' मण्डलकनामक भयानक कोढ़ पैदा करके मार ही डाले।

फिर आँच की जाँच बड़ी कठिन है। जो लोग रोज़ बनाते रहते हैं, सैकड़ों बार जिन्होंने बनाया है, वे भी यह निश्चय नहीं कर सकते कि इस बार भी हम ठीक ठीक बना लेंगे। यदि आँच कुछ कम रही तो कच्चा उतरा। यह रोगियों का घातक है। आँच कुछ अधिक लग गई तो या तो उड़ गया या निर्वीर्य हो गया। अब इसका कुछ असर ही नहीं। यह बात ऐसी है कि हज़ार पुस्तकें पढ़ने पर भी नहीं आती। प्रत्यक्ष क्रियायें देखनी पड़ती हैं और देखने पर भी ठीक ठीक नहीं आतीं। यदि दो एक बार देख भी लीजिये और फिर बनाने लगिये तो अवश्य बिगड़ेगा। जब तक कोई अच्छा गुरु इसके गुर न बता दे, इसकी ख़ास ख़ास बातों की ओर ध्यान न दिला दे और देखनेवाला स्वयं भी अच्छा बुद्धिमान् न हो तब तक रस बनाना नहीं आ सकता। मतलब यह कि दिव्य चिकित्सा समझने के लिये बुद्धि भी दिव्य चाहिये।

'गोवरगणेशों' का यहाँ काम नहीं है। जहाँ इसके हज़ारों दिव्य गुण हैं, जहाँ एक दिन के बच्चे से लेकर सौ वर्ष के बूढ़े तक को यह अमृततुल्य लाभ पहुँचाती है वहाँ विगड़ने पर हानि भी कम नहीं करती। यदि निदान ठीक है और औषध भी ठीक बनी है तो एक ही खुराक में लाभ दिखायेगी, अन्यथा तुरन्त हानि भी करेगी। तलवार तो है ही। सीधी पड़ी तो शत्रु को काटेगी और उलटी पड़ी तो आप ही को काटेगी।

फिर रसों के बनाने में ख़र्चा भी बहुत है और परिश्रम भी बहुत है। समय भी बहुत लगता है। साधारण हैसियत के वैद्य लोग इसे बना भी नहीं सकते। एक मकरध्वज को ही लीजिये। इसके बनाने के लिये पहले पारा शुद्ध करना पड़ता है। इस शुद्धि का नाम संस्कार है। सब मिलाकर १८ संस्कार हैं। यदि इन सबको शास्त्र के अनुसार करें तो २० वर्ष लगते हैं और ३०-४० हज़ार रुपये ख़र्च बैठता है। फिर पाँच सेर पारे के संस्कार किये जायँ तो मुश्किल से अन्त्य में ५ छटाँक बचता है। यदि कर्ता अनुभवी नहीं है तो लाखों ख़र्च करने पर भी कुछ न बनेगा।

अलीगढ़ के एक वकील साहब ने पारे के संस्कार आरम्भ किये। लखपती आदमी थे। बहुत कुछ ख़र्च किया, मिहनत भी कम नहीं की, परन्तु अन्त्य तक न पहुँच पाये। जिन वैद्यों से काम लिया वे न विद्वान् थे न क्रियाकुशल। आख़िर पारा न पचा, न बना। हाँ, अपने तजुर्बों की एक भारी पोथी छपा गये हैं। नाम है 'पारदसंहिता'। ७ रुपया मूल्य है और बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस में छपी है।

मकरध्वज बनाने के लिये शास्त्रोक्त आठ संस्कार करना आवश्यक है। ये दो प्रकार के हैं। छोटे और बड़े। बड़े तो

ये ही हैं। छोटे कुछ सरल हैं। जल्दी हो जाते हैं। फिर भी डेढ़ दो वर्ष लग ही जाता है। ख़र्चा भी काफ़ी होता है और मिहनत भी। आठ दिन तक बराबर दिन रात (६४ पहर की) आँच देनी पड़ती है। तब कहीं मकरध्वज तयार होता है और वह भी छोटे संस्कारोंवाला।

इधर बङ्गाल में देखिये तो मकरध्वज की धूम मची हुई है। गाड़ियों मकरध्वज रोज़ ढला करता है और डङ्के की चोट ४ रु० तोला बेंचा जाता है। चाहे मन भर ख़रीद लीजिये। मज़ा तो यह है कि यह सिद्ध करने की भी चेष्टा की जाती है कि मकरध्वज बनाने में अधिक व्यय नहीं होता।

आप यदि हज़ार आँच का अभ्रक बनायें तो कम से कम १८–२० वर्ष लगेंगे। फिर जितना पुराना हो उतना ही अच्छा। सौ सवा सौ वर्ष हुए हमारे बाबा के गुरुजी ने हज़ार आँच का अभ्रक बनाया था। उसे ख़र्च करते समय यही ध्यान आता है कि हम अपने जीवन में ऐसा नहीं बना सकते। हीरा जब चाहे फूँक लेंगे, पर यह न बनेगा। सवा सौ वर्ष की प्राचीनता के कारण जो गुण उत्पन्न हुए हैं वे अब हमारे जीते जी नये अभ्रक में कैसे पैदा होंगे? निदान यह सिद्ध हुआ कि रस दिव्य भी हैं और दुर्लभ भी। एवं केवल पुस्तकों के सहारे ये बनाये भी नहीं जा सकते।

यूनानी चिकित्सा के सिद्धान्त आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के रूपान्तरमात्र हैं। सौदा, सफ़रा, बलग़म ये वात, पित्त, कफ के ही नामान्तर हैं। औषधपरीक्षा और द्रव्यपरीक्षा भी एक सी है। जिन आठ प्रकार के औषध-वीर्यों का उल्लेख चरक ने किया है उन्हीं को गर्मतर, गर्मख़ुश्क, सर्द-ख़ुश्क आदिक नामों से यूनानी लोग मानते हैं।

आयुर्वेद-महत्त्व

'शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा'

ऐहिक तथा पारलौकिक वस्तुओं के जानने के तीन ही साधन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इन्हीं तीनों को प्रमाण भी कहते हैं। चक्षु, श्रोत्र, नासिका आदि इन्द्रियों के द्वारा जो साक्षात्कार होता है, उसे 'प्रत्यक्षज्ञान' कहते हैं। केवल मन के द्वारा उत्पन्न हुआ साक्षात्कार भी प्रत्यक्ष कहाता है और इन सब ज्ञानों का साधन होने के कारण इन्द्रियों को 'प्रत्यक्षप्रमाण' कहते हैं। किसी ज्ञात हेतु के द्वारा उससे सम्बद्ध अज्ञात वस्तु के ज्ञान को 'अनुमान' कहते हैं। और जो वस्तु इन दोनों प्रमाणों से नहीं जानी जा सकती उसका ज्ञान करानेवाले प्रमाण को 'आगम' कहते हैं।

आँखों से शुक्ल, कृष्ण रूप देखना, कानों से अनेक प्रकार के शब्द सुनना, नाक से सुगन्ध, दुर्गन्ध सूँघना, जिह्वा से खट्टे, मीठे रसों का स्वाद लेना और त्वचा से गर्मी, सर्दी जानना प्रत्यक्षज्ञान कहाता है। परन्तु आँख, कान आदि इन्द्रियाँ बाहरी विषयों का ही ज्ञान कराती हैं, भीतरी वस्तुओं के ज्ञान में इनकी सामर्थ्य नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को अपने सुख, दुःख का अनुभव होता है। हर-एक आदमी में काम और क्रोध, लोभ और मोह, अनुराग

हाँ, वात, पित्त, कफ के साथ उन्होंने खून को भी दोष माना है। उनके मत से चार दोष हैं। हमने इस विषय पर कई यूनानी चिकित्सकों से विचार भी किया, परन्तु कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला। यदि खून भी दोष है तो मांस, चर्बी आदि को क्यों न इसी कोटि में माना जाय? वस्तुतः रुधिर, मांस आदिक दोष नहीं, बल्कि दूष्य हैं।

ईरान आदि देशों की जल, वायु और मेवा, फल आदि की अधिकता के कारण वहाँ लोगों में खून बहुत अधिक होता है। इतना अधिक कि साल में कई बार फ़स्द खुलानी पड़ती है। हम समझते हैं कि इसी प्रत्यक्ष अनुभव की अति मात्रा के कारण सम्भवतः यूनानी चिकित्सकों ने वात, पित्त, कफ के साथ रुधिर को भी सम्मिलित कर लिया।

यूनान में वात, पित्त, कफ का सिद्धान्त तो भारत से पहुँचा, परन्तु वहाँ के लोग इनके मूल तत्त्वों की उस दार्शनिक विवेचना से अपरिचित रहे जिसकी चर्चा हमने (पृष्ठ ७५ पर) की है। यदि वे इससे परिचित होते तो वात, पित, कफ के साथ खून को शामिल करने की आवश्यकता का कदापि अनुभव न करते। इस अज्ञान के कारण ही उन लोगों ने चौथी 'ख़िल्त' मानना स्वीकार किया जो कि अब भी कश्मीरी दुशाले में यूनानी टाट के पेवन्द की तरह साफ़ चमक रही है।

इस प्रकार देश काल के अनुसार यूनानी चिकित्सकों ने कुछ परिवर्तन भी किया है। नाड़ीज्ञान में विशेषता भी पैदा की है। साथ ही अपने जातीय दुर्गुणों को भी कहीं कहीं हिकमत से मिला दिया है। कई यूनानी चिकित्सा के ग्रन्थकारों ने पुरुषमैथुन की प्रशंसा करके मुसलमानी स्वर्ग के

'गिलमान' की याद दिलाई है। दिल्ली के हकीम शरीफ़खाँ साहब यूनानी चिकित्सा के प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थकारों में धुरन्धर समझे जाते हैं। इनकी बनाई 'मख़ाज़िन उल तालीम' नामक पुस्तक के २८ पृष्ठ पर लिखा है—"जिमाय फोंदकाँ मिन जिहते क़िल्लते इस्तिफ़राग अक़्ल ज़रर अस्त अज़ जिमाय ज़नाँ" हिन्दी में इसका अर्थ करना अत्यन्त असभ्यता है। फ़ारसी के भक्त लोग और यूनानी हकीम साहबान इसका अर्थ खूब समझते हैं।

परन्तु जिस दिव्य चिकित्सा का वर्णन हम कर रहे हैं उसका यूनानी चिकित्सा में एकदम अभाव है। जब मर्ज़ 'उस्तखुद्दस' और 'तुख़्मे ख़यारैन' की ताक़त से बाहर हो जाता है तब मुर्ग़ की अँतड़ी, मुर्ग़ी के अण्डे और माउललहम (मांस की शराब) के सिवा हकीम साहबान के पास कुछ नहीं बचता। बाक़ी सबको बधना भर अमलतास है। हाँ, डॉक्टरों से फिर भी बहुत अधिक है। वहाँ तो जीते, मरते बराण्डी के सिवा और कुछ भी नहीं है। यूनानी चिकित्सा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह सर्वांश में अत्तारों के ऊपर निर्भर है। हकीम साहब के पास तो एक क़लमदान और कुछ काग़ज़ के टुकड़ों के सिवा कुछ भी नहीं रहता। घंटा भर हकीम साहब के यहाँ हाज़िरी दीजिये तो तीन घंटे अत्तार साहब के यहाँ पहरा दीजिये। फिर घर भर मिलके दवा तयार कीजिये। कोई दवा पीसे, कोई कूटे, कोई उबाले, कोई भिगोके मले। एक नुसख़े में बीस झंझट। दोपहर तो इसी झगड़े में हो गया। अब क़द्दा भर दवा तैयार हुई जिसे देखते ही मरीज़ की साँस रुकने लगी। कमज़ोरी में जब एक रोटी से अधिक की

भूख ही नहीं, तो इतनी दवा किसके पेट में समाये ? फिर पेट तो दवा से ही भर गया अब रोटी कहाँ रक्खी जाय ? यदि अत्तार साहब ने एक के बदले दूसरी दवा रख दी है तब तो सफ़ाया ही हुआ । यह सब व्यावहारिक दोष हैं, परन्तु जहाँ तक विचारों का सम्बन्ध है वहाँ तक हम यूनानी चिकित्सा का आदर करते हैं । रोगी के दोषों के बलाऽबल की परीक्षा, नाड़ी की बारीकियाँ, दवा के गुण दोषों की परीक्षा, दो चार दवाओं के मिलान से होनेवाला योग (नुसखे) का प्रभाव इन सब बातों पर यूनानी अतिब्बा बड़ी कुशलता, बड़ी बारीकी और बड़ी पेचीदगी से विचार करते हैं । अन्ततः यूनानी पद्धति आयुर्वेद से ही निकली हुई एक प्रशस्त चिकित्सा-पद्धति है । 'डण्डा फटकार' या 'छुरा भोंकू' इलाज नहीं है ।

आज भी यूनानियों के सबसे बड़े ख़ान्दान में आयुर्वेद के कई रस बर्ते जाते हैं । सच पूछिये तो इन्हीं के कारण उस ख़ान्दान ने सबसे अधिक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त की है । अनेक असहिष्णु पक्षपाती हकीम इसी कारण उन लोगों को हकीम ही नहीं मानते बल्कि अपनी बोली में 'वैद' कहा करते हैं ।

यूनान में आयुर्वेदिक सिद्धान्त किस तारीख़ में और किस रास्ते से पहुँचे, इसकी छानबीन का न तो हमें अवकाश ही है न आवश्यकता । संसार की सबसे प्राचीन और हिन्दुओं की धर्मपुस्तक में जो सिद्धान्त मिलते हैं और बहुत विस्तृत रूप में अब भी आयुर्वेद में विद्यमान हैं, वे यूनानी चिकित्सा में सब के सब वैसे ही मिलते हैं और जो बातें केवल शब्दों के द्वारा नहीं पहुँच सकती थीं, जिनके लिये गुरुओं के घर में रहकर क्रियाकुशलता प्राप्त करने की आवश्यकता

थी वे अब भी यूनानी चिकित्सा में नहीं हैं, यह एक बात ही सत्य का निर्णय करा देने को काफ़ी है।

हाँ, बहुत से हकीमों ने वैद्यों की देखादेखी कुछ फूँकफाँक भी शुरू की है। इसे ये लोग 'कुश्ता' कहते हैं। इसका फल भी वही हुआ जो होना चाहिये था। कोई 'कुश्ता' खाकर पागल हुआ, किसी पर फ़ालिज गिरा, किसी का शरीर फूट-कर कोढ़ टपकने लगा। न तो आयुर्वेद की तरह शुद्धि और संस्कारों का विधान यूनानी चिकित्सा में था; न आँच की जाँच का कोई मार्ग था। न अच्छे बुरे, कच्चे, पक्के, अधकचरे रसों की परीक्षा का कोई तरीक़ा था। जो कुछ था, वह सुना सुनाया। या फिर कहीं से उड़ाया हुआ। आख़िर चोरी फूट निकली और आयुर्वेद का यह वाक्य 'कुष्ठं मण्ड-लकं कृत्वा मारयत्येव निश्चितम्' सफल हुआ।

इसका एक फल और भी हुआ। हकीम लोगों को अपने दोष और अज्ञान का तो पता लगा नहीं। उन्होंने वह सब दोष औषध का ही समझा और साधारण जनता को 'हाय कुश्ता' 'हाय कुश्ता' के भयानक नाद से डरा दिया। साथ ही यह भी ख़ूब प्रचारित किया कि 'वैद्' लोग कुश्ता ही देते हैं और कुश्ते का यही असर होता है जो हमारे कुश्ते का हुआ है। पर यह नहीं बताया कि हम कुश्ते के सब अङ्गों से परिचित नहीं हैं और रोगी के शरीर में यह हमारा अज्ञान या चोरी फूट निकली है। इसका परिणाम यह हुआ कि हकीमों का अधिक सहवास करनेवाली और आयुर्वेद से अनभिज्ञ जनता वैद्यों से डरने लगी एवं इन्हीं को 'कुश्तो ख़ून' का मूजिद क़रार देने लगी।

इधर 'कुश्तों' की तरफ़ तो 'अंगूर खट्टे' निकले, लेकिन

कच्चे रत्नों के प्रयोग की प्रक्रिया को 'मुलायम चारा' समझकर हकीम साहबान ने अपना लिया। परन्तु 'शुद्धि' के नाम से यहाँ भी गड़बड़ाते रहे। फिर भी कुछ रत्नों को घोट पीसकर 'जवाहर मोहरा' बना ही तो लिया। लेकिन ख़तरनाक शिकार से अब भी घबराते रहे। हीरा आदि रत्नों को नहीं छेड़ा। बकरों और खरगोशों पर ही हाथ साफ़ किया। शेरों से नज़र बचा गये। हाँ सोने चाँदी के वर्क़ ज़रूर बनाये। यह आप लोगों की ही ईजाद है। अक्सर तबीब साहबान फ़र्माया करते हैं कि 'कुटाई' की 'गर्मी' से वर्क़ों में कुश्ते की तासीर पैदा हो जाती है। मगर बद्क़िस्मती से कैमिस्ट्री (Chemistry) ने यह साबित कर दिया है कि सोने चाँदी के वर्क़ों को हज़म करनेवाला कोई यन्त्र मनुष्य के पेट में नहीं है। इधर हकीम लोग 'वर्क़ तिलाई' और 'वर्क़ नुक़रई' कुटाते कुटाते परेशान होते हैं और उधर कैमिस्ट लोग खाये हुए वर्क़ों को पाखाने में से निकालकर साफ़ दिखा देते हैं। 'इलाही खैर हो दोनों ये चोटें हैं बराबर कीं'। यदि कोई कैमिस्ट हमारी स्वर्णभस्म को अलग कर दिखाने की हिम्मत करेगा तो हम भी देखेंगे।

दिव्य चिकित्सा के इस प्रकरण में वैदिक सिद्धान्तानुसार सबसे बड़ी ओषधि हैं सूर्य की किरणें। इनसे रोग दूर होते हैं, बल बढ़ता है और विशेष रूप से बीमारी बढ़ानेवाले कीड़े मरते हैं। कुछ कीड़े दीख पड़ते हैं, कुछ नहीं दीख पड़ते। नंगी आँख (बिना अणुवीक्षण) से इनका देखना सम्भव नहीं है। वेदों ने इन कीड़ों को मनुष्य आदि प्राणियों का शत्रु बताया है और शरीर के सब अङ्गों पर आक्रमण करनेवाला कहा है। इनमें कई ऐसे हैं जिनके अगल बगल काले और

लाल विन्दु दीखते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनके शरीर का अधिक हिस्सा काला या नीला होता है। इनके आकार भी अनेक होते हैं और रङ्ग भी अनेक होते हैं। अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड में एक सम्पूर्ण सूक्त इन्हीं बीमारी के कीड़ों की चर्चा से पूर्ण है और सूर्य को प्रधानतया इन सब राक्षसों का नाश करनेवाला बताया है। अग्नि, वायु, इन्द्र आदिक भी कीड़ों के नाशकारी माने गये हैं। देखिये--

'ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ १॥
अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम॥ २॥
यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥ ३॥
सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः॥ ४॥
ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि॥ ५॥
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ ६॥
सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥ १०॥

(अथर्व ५। २३। १५)

इनमें से पहले मन्त्र में आकाश, पृथ्वी, सरस्वती, इन्द्र और अग्नि से कीड़ों का नाश करने की प्रार्थना है।

दूसरे में कीड़ों को ('विश्व' का 'अराति') मनुष्य आदि का शत्रु बताया है और इन्द्र तथा कुबेर से उनको मारने की प्रार्थना है। तीसरे में आँखों पर आक्रमण करनेवाले नाक के दोनों छेदों के द्वारा मनुष्यों पर धावा करनेवाले और दाँतों के बीच में—मसूड़ों की जड़ों में—घुसकर आक्रमण करनेवाले कीड़ों का उल्लेख है और उनको मारने का विधान है। चौथे मन्त्र में दो समान रूप के कीड़ों, दो भिन्न रूप के कीड़ों, दो काले रँग के और दो लाल रँग के कीड़ों की चर्चा है। लाल और काले रँग के दाग़ोंवाले तथा भूरे रँग के कीड़ों का उल्लेख है। बभ्रु, बभ्रुकर्ण, गृध्र और कोक उनके नाम हैं। पाँचवें मन्त्र में श्यामवर्ण की कक्षावाले काले रँग के और काले बाहुवाले, कीड़ों का ज़िकर है। साथ ही यह भी कहा है कि इनके सिवा और भी अनेक रूप ('विश्व रूप') के कीड़े होते हैं। छठे मन्त्र में तीन सिरवाले, तीन कोनेवाले, चित्र-वर्ण और शुक्लवर्णवाले कीड़ों का उल्लेख है। अन्तिम मन्त्र में सब कीड़ों को मारने का आदेश है और साथ ही यह भी सूचित किया है कि इन कीड़ों के एक ही शरीर में स्त्री और पुरुष के दोनों चिह्न हुआ करते हैं। जिन कीड़ों को एक बार सर्वेषां क्रिमीणाम् कहकर पुरुष सूचित किया उन्हीं को फिर 'सर्वासां क्रिमीणीम्' कहकर स्त्रीलिङ्ग सूचित किया है। अलग अलग स्त्री और पुरुष व्यक्तियों के लिये सर्वेषां क्रिमीणाम् कह देना काफ़ी है। व्याकरण के नियम (एक-शेष) के अनुसार सर्वेषां क्रिमीणाम् से स्त्री और पुरुष दोनों व्यक्तियों का बोध हो सकता है। जैसे जोंक के एक ही शरीर में स्त्री-

व्यञ्जन और पुंव्यञ्जन दोनों कार्यक्षम देखे जाते हैं, दो जोंकें इकट्ठी रहने से दोनों गर्भिणी होती हैं और दोनों अण्डे देती हैं, इसी प्रकार इन 'अदृष्ट' कीड़ों में भी होता है।

हमने इन मन्त्रों के अर्थों का सूत्र रूप से दिग्दर्शनमात्र किया है। शीघ्रता के कारण विस्तृत विचार नहीं कर पाया है। परन्तु साइंस के अनुयायी और कीटाणु सिद्धान्त के आविष्कर्ताओं का ध्यान हम इस ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि पश्चिमी साइंस के पक्षपाती लोग यह सोचें कि आज से हज़ारों वर्ष पूर्व—जब कि पश्चिमी जगत् बन्दरों की श्रेणी से निकलकर मनुष्य कोटि में प्रविष्ट भी नहीं हुआ था उस समय—इन 'गड़रियों के गीतों' में ये बातें कहाँ से घुस पड़ीं जिन्हें "करोड़ों रुपयों की विज्ञान-शालाओं में लाखों रुपये वेतन पानेवाले हज़ारों यन्त्रों से सुसज्जित और सैकड़ों नित नये आविष्कार करनेवाले" पश्चिमी वैज्ञानिकों ने आज जान पाया है। वैज्ञानिकों ने तो आज बड़े बड़े क़ीमती खुर्दबीनों से इन कीड़ों को देखा है और उनके देह पर लाल काले दाने (या दाग़) भी पहिचाने हैं, परन्तु उन 'गड़रियों' ने ये बातें कैसे जानीं ?

यदि ठीक ठीक सब बातें मिल जातीं तो यह भी कहा जा सकता था कि यह सब साइंस की नक़ल है, परन्तु यहाँ तो सिद्धान्तों में भी भेद है। ऐसी बातें भी हैं जो अब तक साइंस के ज्ञान से परे हैं। कीटाणुओं का वर्णन तो बहुत कुछ मिलता है, परन्तु साइंस की तरह ये 'गड़रिये' कीटाणुओं को बीमारी का कारण तो नहीं मानते। ये तो कहते हैं कि रोग होने के बाद कीटाणुओं का आक्रमण सफल होता है और 'यक्ष्मा' का कारण एक विष है।

एक मुश्किल और भी है। यदि हिन्दुस्तान के छपे और किसी हिन्दुस्तानी के छपाये वेदों में ही यह बातें होतीं तो बहुत से 'मनचले' मिलावट या 'प्रक्षिप्त' कह भी डालते। परन्तु ठेठ विलायत के छपे और विलायती गुरु मैक्समूलर साहब के छपाये वेदों में भी तो ये सब बातें ज्यों की त्यों मिलती हैं! अफ़सोस तो यही है !!!

अब या तो यह मानिये कि इन 'गडरियों' के पास भी आपके ही जैसे यन्त्र थे या फिर यह मानिये कि कोई दूसरा उपाय (योगज प्रत्यक्ष) था जिससे इन्होंने इन कीटाणुओं को देख पाया। दोनों दशाओं में मेजर डॉक्टर रणजीतसिंह साहब बहादुर के चैलेञ्ज का बहुत कुछ जवाब हो जाता है, परन्तु सोचना तो यह है कि इस Greatest unscientific system में ये Up to date science के कीड़े घुसे किधर से?

सूर्य इन कीड़ों का क्या करता है, सो भी सुन लीजिये—

'उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन्॥'
(अथर्व ५।२३।१३)

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा॥ (अथर्व ६।५२।१)

अर्थात् दीख सकनेवाले और न दीख सकनेवाले समस्त कीड़ों का मर्दन करता हुआ उनको मारता हुआ सूर्य पूर्व से उदय होता है। राक्षसों (क्रिमियों) का ध्वंस करता हुआ सूर्य आकाश में उदय होता है इत्यादि।

इस प्रकार सूर्य की किरणें साक्षात् अथवा किसी तैजस पदार्थ में अन्तर्हित होकर रोग को दूर करती हैं। जल के

द्वारा भी रोगनाशक होती हैं। वात, पित्त, कफ की विषमता को दूर करके (उनमें साम्य उत्पन्न करके) आरोग्यदायक होती हैं। तीन दोषों को दूर करने के कारण तीन प्रकार की मानी जाती हैं। वातनाशक, पित्तनाशक और कफ नाशक किरणों में परस्पर कुछ भेद अवश्य रहता है। ये ही तीन दिव्य भेषज हैं। इन्हीं को पूर्वोक्त ऋचा में 'त्रि नों अश्विना दिव्यानि' (भेषजानि) शब्द से कहा गया है और आयुर्वेद में इसे दैवी चिकित्सा या रसचिकित्सा का नाम दिया गया है।

आदित्यलोक से नीचे उतरकर ये ही किरणें जब बिजली या चन्द्ररश्मि के रूप में प्राणियों अथवा वनस्पतियों पर प्रभाव डालती हैं तब दूसरे लोक में इनका परिगणन होता है एवं और नीचे (पृथ्वी पर) आकर जब अग्नि के रूप में अथवा किसी योगाभ्यासी या मिस्मरेज़म करनेवाले की नेत्ररश्मि के रूप में प्राणी के शरीर पर अनुकूल प्रभाव डालती हैं तब तीसरे लोक में इनका अन्तर्भाव होता है। इस प्रकार इन दिव्य ओषधियों (सूर्य की किरणों) का सम्बन्ध तीनों लोकों से होता है। वेद का एक ही 'अग्नि शब्द यौगिकमर्यादा के अनुसार लोकभेद से इन भिन्न भिन्न अर्थों का वाचक होता है।

यद्यपि इन सभी किरणों से प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ सकता है और पड़ता है, परन्तु उसकी किसी चिकित्सा में गिनती नहीं होती। मनुष्य अपने अज्ञान के कारण मिथ्या आहार-विहार से जो दोष पैदा कर लेता है उसी का नाम तो रोग है। और जब एक प्राकृतिक तत्त्वों के प्रभाव का विशेषज्ञ (चिकित्सक) इन किरणों से या अन्य किसी उपाय से उस दोष को दूर करता है तब उसका नाम चिकित्सा होता है।

और विराग विद्यमान रहते हैं। और वह उन सबका अनुभव भी करता है, परन्तु इस अनुभव में न आँख की सहायता की आवश्यकता पड़ती है न कान की, न और किसी इन्द्रिय (बाह्यकरण) की। केवल मन के द्वारा इन सब आन्तरिक वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। अन्दर की वस्तुओं के ज्ञान का साधन होने के कारण मन को 'अन्तःकरण' भी कहते हैं और केवल मन के द्वारा होनेवाले उक्त प्रकार के भीतरी ज्ञान को 'मानस-प्रत्यक्ष' कहते हैं। इस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा और केवल मन के द्वारा उत्पन्न हुआ बाहरी और भीतरी प्रत्यक्ष दो विभागों में समाप्त होता है। इसके आगे प्रत्यक्ष की सीमा नहीं है—ज्ञानेन्द्रिय सहित मन अथवा केवल मन की उक्त परिधि के अन्दर ही प्रत्यक्षज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है।

इन्द्रियों और ज्ञेय वस्तुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। यद्यपि इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध के आगे प्रत्यक्षज्ञान की सीमा नहीं है, परन्तु सम्पूर्ण ज्ञान इस सीमा के भीतर नहीं आते। ज्ञान उन वस्तुओं का भी होता है जो इन्द्रियों की सीमा के बाहर हैं। दूर से धुआँ उठता देखकर वहाँ अग्नि होने का ज्ञान होता है, यद्यपि आँख से उस अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होता। नदी में अचानक आई हुई बाढ़, गँदला पानी और फेन आदि को देखकर यह ज्ञान हो जाता है कि ऊपर कहीं वर्षा हुई है, यद्यपि बादल और वृष्टि का नेत्रों से साक्षात्कार नहीं होता। बादलों का विशेष रूप और हवा का खास रुख देखकर यह समझ में आ जाता है कि पानी बरसेगा, यद्यपि उस समय पानी का चक्षुरिन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

आदित्यलोक से नीचे अन्तरिक्षलोक है। इसके देवता का नाम है वायु अथवा इन्द्र। चन्द्रमा, मेघ, बिजली, जल आदि सब इन्द्र या वायु के ही अंशविशेष या निरुक्त के शब्दों में भक्तिविशेष हैं। वायु और जल के द्वारा जितनी चिकित्सायें होती हैं उन सबका इसी में अन्तर्भाव है। वायु की रोगनाशक शक्ति को सूचित करनेवाले कई मन्त्र हमने यक्ष्मा के प्रकरण में दिखाये हैं। प्राणायाम या श्वास-प्रश्वास के द्वारा होनेवाली चिकित्सा भी इसी के अन्तर्गत है।

नीचे लिखे मन्त्रों से जल की रोगनाशक शक्ति की सूचना मिलती है। सम्पूर्ण जलचिकित्सा इसी के अन्तर्गत है। परन्तु एक बात है। इस चिकित्सा का सम्बन्ध अन्तरिक्षलोक से होने के कारण अन्तरिक्षलोक के जल—वर्षा के पानी—में ही रोगनाशक शक्ति की विशेषता है। पृथ्वी पर पड़े हुए, नदी, तालाब आदि के पानी में पार्थिव अंश का संसर्ग हो जाने और विशुद्ध वायु (आकाश की) का सम्बन्ध छूट जाने एवं अन्तरिक्ष के प्रधान देवता इन्द्र (बिजली) का वियोग हो जाने के कारण न उतनी विशुद्धता रह जाती है न उतनी रोगनाशक शक्ति ही बच रहती है। तथापि आवश्यकता पड़ने पर सभी प्रकार के जलों से काम लिया जा सकता है।

नीचे लिखे मन्त्र से यह स्पष्ट होता है कि वही जल रोग का नाशक होता है जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती रहें। अँधेरी जगहों का बन्द जल हानिकारक होता है। देखिये—

'अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह।
ता नो हिन्वन्त्यध्वरम्।' (ऋ० १।२३।१७)

'ध्वर' का अर्थ है हिंसा या मृत्यु (ध्वृ हिंसायाम्)।

'अध्वर' का अर्थ है अहिंसा, आरोग्य अथवा यज्ञ। अध्वर अर्थात् आरोग्य को वही जल सम्पन्न करता है जो 'उपसूर्ये' सूर्य के सामने है अथवा 'याभिः (अद्भिः) सह' जिसके साथ सूर्य (सूर्य रश्मि) रहता है अर्थात् जो आकाश से आया है।

'अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुतप्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः।' (ऋ० १।२३।१९)

अर्थात् जल के भीतर अमृत है। जल के भीतर औषध है और जल से सब इन्द्रियाँ (देव) शक्तिशाली (वाजी) होती हैं।

'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।'

इस ऋचा की चर्चा हो चुकी है।

'शं न आपो धन्वन्याः शमुसन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः।
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः।' (अथर्व १।६।४)

मारवाड़ का जल, अनूप देश का जल, खोदकर निकाला हुआ, घड़े में रक्खा हुआ और वर्षा का जल कल्याणकारी हो। यह इन ऋचाओं का अक्षरार्थ है। अवकाशाभाव के कारण हम इनका विशिष्ट भावार्थ नहीं दे सकते। पाठक गण स्वयं विचार लें।

इन सब प्रकार के जलों में भी वात, पित्त, कफ को शमन करने का सामर्थ्य रहता है अतएव पूर्वोक्त ऋचा में 'त्रिरु दत्तमद्भ्यः' (जल में से तीन प्रकार की औषध दो) लिखा है।

'त्रिःपार्थिवानि=पृथिवी पर की तीन प्रकार की ओषधियों के सम्बन्ध में हम पहले ही बहुत कुछ कह आये हैं। इस प्रकार वैदिक सिद्धान्तानुसार तीनों लोकों की

तीनों ओषधियाँ तीन तीन प्रकार की शक्तियों से युक्त हैं। संसार के सभी प्राणी और अप्राणी, जड़ और चेतन, स्थावर और जङ्गम—जो कुछ भी हैं—इन तीन शक्तियों (वात, पित्त, कफों) के ही अन्तर्गत हैं। इनसे बाहर कुछ भी नहीं। स्थूल जगत् को आरम्भक पञ्चतन्मात्राओं की इन तीन महाशक्तियों का निरूपण वेद और आयुर्वेद ने संसार के कल्याण के लिये किया है। प्रत्यक्ष और कोरे अनुमान की यहाँ गति नहीं। साइंस के साधनों की यहाँ पहुँच नहीं। योगजज्ञान, ऋतम्भरा प्रज्ञा, आर्षचक्षु, ईश्वरीय उपदेश या वैदिक वाक्यों के सिवा उस मार्ग का पता बतानेवाला और कोई नहीं हो सकता। यह विषय शब्दप्रमाण का ही गम्य है। प्रत्यक्ष और शुष्क अनुमान का गम्य नहीं है। परन्तु यह एक ऐसी कुंजी है जिससे संसार के भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सभी रोगों के पेचीदा ताले खुल जाते हैं। यही एक अमोघ परीक्षा है जिससे संसार की भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब ओषधियों की जाँच की जा सकती है। यही एक अचूक काँटा है जिस पर सब देश और सब समय के रोगियों की प्रकृति, सात्म्य, सार, संहनन, दोष, दूष्य आदि के बलाऽबल की ठीक ठीक तौल की जा सकती है। यही एक पथदर्शक है जिससे कोमल से कोमल बच्चा और कठोर से कठोर राक्षस की प्रकृति के साथ औषधों का ठीक ठीक सामञ्जस्य मिलाया जा सकता है। प्रकृतिपति परमेश्वर की अपार कृपा का यही एक प्रसाद है। और प्रकृति को परखने की यही एक कसौटी है जो वेदों के द्वारा सांसारिक प्राणियों को प्राप्त हुई है। वेदों के ईश्वरीयत्व और आयुर्वेद के महत्त्व प्रतिपादन का यही एक

प्रकार है। यदि संसार की कोई भी चिकित्सापद्धति अपने को मानवजाति या प्राणिसमूह का यथार्थ हितकारी बनाना चाहती है तो उसे एक न एक दिन आयुर्वेद के इन सिद्धान्तों की शरण में आना पड़ेगा और अवश्य आना पड़ेगा।

इस निबन्ध में हमने ऋग्वेद की एक ही ऋचा पर विस्तृत और सर्वाङ्गीण विचार किया है। अन्य मन्त्रों का साधारण अर्थ लिखकर छोड़ दिया है। बहुत से मन्त्रों का तो, विस्तार के भय से, उल्लेख भी नहीं कर पाया है। परन्तु विस्तृत तथा गम्भीर विचार कर सकने के लिये वेदार्थ करने की प्रक्रिया का निर्देश कर दिया है। विचारवान् पाठकों के लिये वह मार्गदर्शक हो सकता है।

अन्त्य में हम संसार के कल्याण के लिये एक बार फिर ऋग्वेद की उसी ऋचा के द्वारा परमेश्वर से प्रार्थना करते हुए इस सन्दर्भ को यहीं समाप्त करते हैं।

'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा,
त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे-
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती।'

॥ इति ॥

पाञ्चालीं चलितां चतुर्थपतितां सद्वेदविद्यामिवाऽ-
रे रे कीचक, नीच वंशदहनीं मास्माऽवमंस्थाश्चिरम्।
अन्तर्ध्वान्तमनन्तवैरिदमनोन्मीलज्जलामोत्सवो
भ्राम्यद्भीमगदो मदोपशमनो जागर्ति पार्थोबली॥ १॥

वेदानुयायिजनकौतुकवर्धनाय,
वेदप्रतीपजनतामदमर्दनाय ।
वेदेषु गूढमहिमानमनामयत्व-
मूलं नुतं व्यतनवं नवकौतुकेन ॥ २ ॥

भाष्यान्तं पणिनात्मजीयभणितं नागेशगीर्भिर्नुतं
काणादं च विनीय गौतममथो पातञ्जलं कापिलम् ।
यः श्रद्धैकधनोऽजनिष्ट भगवत्पूज्येऽनिशं शङ्करे
तेनाऽकारि किल त्रयीरिपुवने शार्दूलविक्रीडितम् ॥ ३ ॥

कृता नेत्रगुणाऽब्देन टीका 'साहित्यदर्पणे' ।
'आयुर्वेद-महत्त्वं' च ब्रह्मवेदायुषः पुरा ॥ ४ ॥

वासिष्ठानां सनाढ्यानां त्रिवेदीविदुषां कुले ।
बरेलीनगरे जातः श्रीलक्ष्मणपुरस्थितिः ॥ ५ ॥

श्रीकाशीनाथपादाब्जद्वन्द्ववन्दनचन्दिरः ।
ालग्रामो मुदाऽकार्षीन्मदशोषं त्रयीद्विषाम् (युग्मम्) ॥ ६ ॥

* श्रीः *

"यस्य निःश्वसितं वेदा
यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे" स महाशक्तिः
शिवोऽनेन प्रसीदतु ॥७॥

इस प्रकार भूत, भविष्यत् और परोक्ष में वर्तमान वस्तुओं का भी ज्ञान होता है, जो कि प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। यह ज्ञान 'अनुमान' कहाता है।

जिस प्रकार 'प्रत्यक्षज्ञान' विषय के अधीन होता है, उसी प्रकार 'अनुमानज्ञान' हेतुज्ञान के अधीन होता है। अनुमान के पहले हेतुज्ञान होना आवश्यक है—धुआँ अग्नि के बिना नहीं हो सकता इसलिये धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता है। धुएँ का ज्ञान अग्नि के ज्ञान का हेतु (साधक) है। अतः अग्नि का अनुमान करने के पहले उस अग्नि से सम्बद्ध धुएँ का ज्ञान होना आवश्यक है। नदी की वही बाढ़, गँदलापन और फेन आदि वृष्टि के अनुमापक होते हैं, जिनका वृष्टि के बिना होना संभव नहीं होता। जो वस्तु जिसके बिना नहीं हो सकती वही उसकी अनुमापक हुआ करती है। असम्बद्ध और अप्रयोजक वस्तु से अनुमान नहीं होता। गौएँ वृक्ष पर नहीं चढ़तीं, इसलिये मछलियाँ भी वृक्ष पर नहीं चढ़तीं, यह कोई अनुमान नहीं है। चौमासे में पृथ्वी गीली होती है, इसलिये सूर्य नहीं निकलता, यह कोई प्रयोजक तर्क नहीं है। जिस हेतु में कोई अनुकूल तर्क नहीं होता उसे अप्रयोजक हेतु या हेत्वाभास कहते हैं। इस हेत्वाभास से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता, अपितु मिथ्याज्ञान कहाता है। 'अनुमानप्रमाण' वही होता है जो सत् हेतु से उत्पन्न हुआ हो और अनुकूल तर्क के बल पर स्थित हो।

प्रत्यक्षज्ञान ज्ञेय वस्तु के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध पर निर्भर है और अनुमान सत् हेतु पर अवलम्बित है परन्तु कुछ ज्ञान ऐसे भी हैं जो इन दोनों कोटियों के बाह

हैं। कल्पना कीजिये कि कोई पुरुष अपने बालक को एक पशु की ओर संकेत करके बताता है कि—"यह घोड़ा है"। बच्चा यह समझ लेता है कि इस पशु का नाम घोड़ा है। यहाँ पशु, जो सामने है, उसका चक्षु से प्रत्यक्ष होता है और 'घोड़ा' शब्द कान से सुनाई देता है इसीलिये उसका श्रावण (श्रवण-जन्य) प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इस शब्द के साथ उस पशु का जो सम्बन्ध (वाच्य-वाचक-भाव) है, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है।

जिस तरह घोड़े को देखकर उसके पैर, मुख, नाक, कान, रूप, रंग आदि का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, वैसे उसके नाम का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं होता। नाम बताना पड़ता है। यदि बताया न जाय तो बच्चा या अनजान आदमी कभी उसे घोड़ा नहीं कह सकता। यहाँ कोई ऐसा हेतु भी नहीं है जिससे उसके नाम का अनुमान किया जा सके। इसी का नाम 'घोड़ा' क्यों है? किसी दूसरे का क्यों नहीं? इसका कुछ और नाम क्यों नहीं? इत्यादि तर्कों की यहाँ गति नहीं है। जैसे घोड़े का झुका हुआ सिर, जल्दी-जल्दी साँस लेना और पसीना देखकर उसकी थकान का अनुमान होता है वैसे उसका नाम जानने के लिये कोई साधन नहीं है। निदान, शब्द की शक्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों के बाहर की बात है। किस शब्द से किस वस्तु का ज्ञान होता है, यह बात उक्त दोनों प्रमाणों से विदित नहीं होती। इसके लिये एक तीसरा प्रमाण आवश्यक है। इसी तीसरे प्रमाण का नाम है 'आगम-प्रमाण' अथवा 'शब्द-प्रमाण'।

संसार का प्रत्येक शब्द प्रमाण नहीं माना जाता। झूठे

और दग़ाबाज़ आदमियों के कहे हुए शब्द प्रमाण-कोटि में परिगणित नहीं होते। केवल आप्त पुरुषों के कहे हुए शब्द प्रमाण माने जाते हैं। जिन्होंने वस्तु का स्वयं साक्षात्कार किया है या प्रामाणिक रूप से सुना है और निष्कपट होकर यथार्थ वस्तु का ज्ञान कराने की इच्छा रखते हैं वे ही 'आप्त' कहाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थलों में शब्द की प्रामाणिकता सन्दिग्ध रहती है। किसी ने दूसरे देश से आकर किसी से कहा कि कल तुम्हारे मित्र के घर में आग लग गई। यहाँ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से अग्नि का लगना नहीं जाना जा सकता। अब यदि वह पुरुष विश्वसनीय (आप्त) है तो उसका शब्द प्रमाण माना जायगा और उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहायेगा, अन्यथा नहीं।

कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिनकी यथार्थता का निर्णय कर लेना प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा साध्य होता है, परन्तु सब ऐसे नहीं होते। यदि किसी ने आकर कहा कि नदी के किनारे नीम के वृक्ष से मद टपक रहा है, तो श्रोता यदि चाहे तो वहाँ जाकर देख आ सकता है। मित्र के घर आग लग जाने की बात सुनकर चिट्ठी द्वारा या स्वयं जाकर निश्चय किया जा सकता है, परन्तु यदि किसी ज्योतिषी ने पञ्चाङ्ग में आज से १० वर्ष बाद ग्रहण का होना लिखा है तो उसकी सत्यता की जाँच न किसी इन्द्रिय से की जाती है न किसी तर्क से। यदि आप स्वयं ज्योतिष जानते हैं तो आपके लिये भी वही एक गणित का रास्ता है, जो उस ज्योतिषी के लिये था, नहीं तो आपको उसके शब्दों का ही प्रमाण मानना पड़ेगा। मतलब यह कि यदि आपको ज्योतिःशास्त्र का ज्ञान है तो आपको उस ग्रन्थकार

आचार्य के शब्दों को प्रमाण मानना पड़ेगा, जिसने ग्रहण की स्थिति जानने के लिये 'भूभा-विम्ब' और 'चन्द्रभा-बिम्ब' आदि निकालने का प्रकार बताया है और उस प्रक्रिया के द्वारा आप पञ्चाङ्ग की जाँच कर सकेंगे, अन्यथा आपको पञ्चाङ्गकर्ता के ही वचनों पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। दोनों दशाओं में शब्द-प्रमाण से छुटकारा नहीं है। चाहे पञ्चाङ्गकर्ता के शब्दों पर विश्वास कीजिये, चाहे ग्रन्थकर्ता के शब्दों पर; परन्तु ग्रहण पड़ने से पहले प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा इसकी जाँच नहीं की जा सकती।

"छोटे वन की बन्दरी बड़े वन में ब्याई" इत्यादिक अनमिल-बेजोड़ शब्द सुनकर कोई तत्त्व समझ में नहीं आता। परन्तु एक आदमी कहता है कि इस पूरे मन्त्र का इतना जप करो और सात गाँठवाली बाँस की लकड़ी को इससे अभिमन्त्रित करो। फिर जिसकी नाफ़ (नाभि) टल गई हो—वह चाहे जैसा पहलवान क्यों न हो—उसकी नाभि में धीरे से वह लकड़ी छुआ दो। उसके छूते ही वह बेहोश हो जायगा या फिर उसे ऐसा कष्ट होगा मानो भीतर से कोई चीज़ खिंच रही है। अब आप पूर्वोक्त अनमिल शब्दों को चाहे जिधर से सूँघिये और चाहे जैसे परखिये, उसकी इस मूर्च्छाकारक शक्ति का पता न कहीं प्रत्यक्ष से लगेगा न अनुमान से।

साँप और बिच्छू का विष मन्त्रों द्वारा दूर किया जाता है। ऐसे हज़ारों आदमी हैं, जिन्होंने यह चमत्कार अपनी आँखों देखा है। वैदिक साहित्य में भाष्यकारों तथा अन्य आचार्यों ने ऐसे अनेक मन्त्रों का निर्देश किया है, जिनसे रोग-विशेष का प्रतीकार या अन्य किसी प्रयोजन की सिद्धि

होती है, परन्तु उन मन्त्रों में यह शक्ति कहाँ से आई, इसका पता कोई नहीं बता सकता। जिस गुरु ने वह मन्त्र बताया है, उसी के शब्दों को प्रमाण मानिये और उसकी आज्ञानुसार क्रिया करके प्रत्यक्ष फल देख लीजिये। इसके पहले बीसियों और इन्द्रियाँ दौड़ाइये और सैकड़ों तर्क भिड़ाइये, फल कुछ न होगा। प्रत्यक्ष और अनुमान यहाँ बेकार हैं।

रत्नों के शुभ-अशुभ फल से बहुत लोग परिचित हैं। नादिरशाह का लड़का एक हीरे को पहनते ही मारा गया था जिसे वह (नादिरशाह) हिंदुस्तान के एक राजा से छीन ले गया था। रत्नों में नीलम सबसे शीघ्र शुभाशुभ-फलप्रद समझा जाता है। किस रत्न के किस-किस दोष से क्या-क्या अनिष्ट होता है, यह बात भी शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। परन्तु यह सब क्यों होता है? इसके लिये शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है। संस्कृत में इसी अभिप्राय की एक अभियुक्तोक्ति प्रसिद्ध है—

"अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः"

अर्थात् मणि, मन्त्र और ओषधियों का प्रभाव अचिन्त्य है। यहाँ चिन्ता का अर्थ है तर्क। 'अचिन्त्य'=अतर्क्य अर्थात् तर्क से जानने योग्य नहीं है। कौन से रत्न, मन्त्र और औषध में कौन सा प्रभाव है, यह बात किसी तर्क के द्वारा नहीं जानी जा सकती। यह विषय प्रत्यक्ष या अनुमान का नहीं है। फलतः यह सिद्ध हुआ कि यह विषय शब्द-मात्र-गम्य है।

सम्पूर्ण महाभारत की कथा अन्धे धृतराष्ट्र को एकान्त में—युद्ध से बहुत दूर—बैठे हुए सञ्जय ने सुनाई थी और उसे यह दिव्य-दृष्टि कुछ समय के लिये व्यासजी से मिली

थी। योगियों के सम्बन्ध में भूत, भविष्यत्, वर्तमान की अज्ञेय बातों के जानने के विषय में और भी अनेक बातें प्रामाणिक ग्रन्थों में मिलती हैं। आज भी जिन लोगों को किन्हीं योगी महापुरुषों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उन्होंने इस प्रकार की बातें सुनकर समय पर उनकी सत्यता का प्रत्यक्ष किया है। उक्त प्रकार के निष्कल्मष योगियों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने यह वचन कहे हैं—

"अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।
आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नातिरिच्यते।"

अर्थात् इन्द्रियों और मन से अज्ञेय (अतीन्द्रिय, असंवेद्य) पदार्थों को जो लोग (योगी) आर्षचक्षु (योगजन्य ज्ञान) से प्रत्यक्ष देखते हैं, उनकी बात अनुमान (तर्क) से नहीं काटी जा सकती। यदि किसी योगी ने कहा कि कल घोर वृष्टि होगी तो यह तर्क करना कि अभी बादल तो हैं ही नहीं। बरसाती हवा भी नहीं है। मानसून उठने की खबर भी किसी अखबार में नहीं छपी। फिर पानी कैसे बरसेगा? इत्यादि तर्कों के द्वारा भविष्यदर्शी योगी की बात काटना सम्भव नहीं है। उसके निर्दिष्ट समय पर वर्षा होगी और अवश्य होगी। कारण-कलाप सब घड़ी भर में इकट्ठे हो जायेंगे। तार्किकों के सब तर्क हवा में उड़ जायेंगे और पानी में बह जायेंगे।

यहाँ पर एक सन्देह हो सकता है कि जिस वस्तु की संसार में सत्ता ही नहीं है उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? असत् वस्तु का ज्ञान 'यथार्थज्ञान' कैसे कहायेगा?

जो वस्तु १० दिन बाद पैदा होगी, अभी है ही नहीं, वह दीखेगी कहाँ से ? इस प्रश्न का उत्तर उक्त द्वितीय पद्य में दिया गया है। 'आविर्भूत०'— यम, नियम आदि के अनुष्ठान से रजोगुण, तमोगुण का आवरण दूर हो जाने के कारण जिनका अन्तःकरण मणि-प्रदीप के सदृश निर्मल हो गया है, जिनके शुद्ध अन्तःकरण में चितिसत्त्व यथावत् प्रतिफलित होता है, जिनमें ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकाशमान है और जिनका अन्तःकरण ज्ञान के आवरण करनेवाले रजोगुण और तमोगुण से उपप्लुत (दूषित) नहीं है, उन महर्षियों को भूत और भविष्यत् का ज्ञान प्रत्यक्ष के समान ही होता है . लोगों को हाथ पर रक्खे किसी फल (आमलक) का सर्वांश प्रत्यक्ष जिस तरह होता है उसी तरह योगियों को भूत और भविष्यत् काल के सम्पूर्ण पदार्थ 'करामलकवत्' भासित होते हैं।

तात्पर्य यह है कि हम लोगों—साधारण जीवों—का ज्ञान अनेक ज़ंजीरों से जकड़ा हुआ है। हम अत्यन्त समीप की वस्तु नहीं देख सकते; जैसे अपनी आँखों में लगा हुआ सुरमा किसी को नहीं दीखता। अत्यन्त दूर की वस्तु को भी नहीं देख सकते, जैसे बहुत ऊँचे उड़ता हुआ पक्षी अथवा अनेक तारामण्डलों में विद्यमान लोक। अत्यन्त छोटी वस्तु को भी नहीं देख सकते, जैसे परमाणु, द्व्यणुक आदि। किसी आवरण से ढकी हुई वस्तु भी नहीं देख सकते, जैसे दीवार की आड़ में खड़ा हुआ आदमी। आच्छन्न और अन्तर्हित वस्तु को भी हम नहीं देख सकते, जैसे पृथ्वी के नीचे का पानी, धरती में गड़ी कील अथवा किसी की जेब में रक्खा काग़ज़। आँख में यदि कोई दोष

हो तो भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, जैसे पित्त—पीतिमावाले को शंख भी पीला दीखता है और अन्धे को कुछ भी नहीं दीखता। यदि मन दूसरी ओर लगा हो तो सामने से निकल जानेवाली वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता। यदि सजातीय उत्कृष्ट वस्तु से कोई वस्तु अभिभूत हो गई हो तो उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से छिपे हुए तारागण नहीं दीखते। सजातीय वस्तु के साथ मिश्रण हो जाने पर भी हमें वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे तालाब के पानी में मिलने के बाद बादल की बूँदों का पृथक् ज्ञान नहीं होता। सांख्य-शास्त्र में अनुपलब्धि के इन कारणों का इस प्रकार वर्णन किया है—

"अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ;
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ।"

(सां. का. ७)

इनके अतिरिक्त और भी प्रत्यक्ष के बाधक हैं। जिनकी सूचना उक्त कारिका के अन्तिम शब्द 'च' के द्वारा दी गई है। ऐसे अनेक बाधक हैं, जो साधारण जीवों के प्रत्यक्ष में बाधा करते हैं ; परन्तु योगियों के प्रत्यक्ष में ये सब कोई बाधा नहीं दे सकते।

योगियों को अपने पेट के भीतर की वस्तु भी दीखती है और स्वर्ग-लोक की भी। वे परमात्मा को भी देखते हैं और परमाणु को भी। योगी अन्धा होने पर भी सब कुछ देखता है। न उसे इन्द्रियों की आवश्यकता है, न वस्तु के सामने मौजूद होने की। वस्तु चाहे कहीं रक्खी हो और चाहे किसी तरह की क्यों न हो, योगी इन्द्रियार्थ सम्बन्ध के बिना ही उसे देख लेगा। लखनऊ में बैठा योगी कलकत्ते

की घटनाओं का प्रत्यक्ष करता है। उसे यह आवश्यकता नहीं कि उसकी आँख उस घटना पर पड़े तभी उसे उसका ज्ञान हो। इस प्रकार के ज्ञान को योगज प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें ज्ञान के पूर्वोक्त बाधकों का प्रवेश नहीं होता। इसी से योगियों को भूत और भविष्यत् के उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है, जिनका साधारण लोग न प्रत्यक्ष कर सकते हैं, न अनुमान। इसीलिये इस ज्ञान का खण्डन किसी तर्क या अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता। यह अनुमान की सीमा के बाहर की बात है। इसे समझने की सामर्थ्य अनुमान में नहीं है। इस विषय में अनुमान का टाँग अड़ाना अनधिकार चेष्टा है। अनुमान इसके आगे हेच है! हक़ीर है!!

जो घटना आज से १०० वर्ष पहले हो चुकी है, उसकी आज कहीं सत्ता नहीं है। परन्तु योगी को उसका प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार भविष्यत् की घटनाओं का भी ज्ञान होता है। हाँ, असत्य घटना का ज्ञान नहीं होता, सत्य घटना भूत की हो या भविष्य की, आकाश की हो या पाताल की, योगी की दिव्य दृष्टि उसे अवश्य खोज निकालेगी। एक 'दन्त-कथा' प्रसिद्ध है। अकबर ने सूरदासजी से दिल्ली चलने का आग्रह किया। परन्तु वे वृन्दावन छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहते थे। बादशाह का अधिक आग्रह देखकर उन्होंने कहा कि यदि रनवास में रहने को जगह मिले तो चल सकता हूँ। बादशाह ने स्वीकार किया। सूरदासजी बेगमों के बीच में रहने लगे। एक दिन किसी बाँदी ने अपनी एक आँख में सुरमा लगाकर इनसे पूँछा कि मेरी आँखों में सुरमा ठीक लगा है? आप बोले—चल हट,

'एक आँख में सुरमा लगाकर हमें दिखाने चली है। इस जवाब से बेगमों में सनसनी फैल गई। सब सन्नाटे में आ गईं। वे सब इन्हें अन्धा समझती थीं। आज मालूम हुआ कि वे उनकी सब हरकतें देखा करते हैं। बादशाह को बुलवाया गया। उन्होंने सूरदासजी को बुलवाया। वे छत पर थे। उतरने लगे तो आधी दूर चलकर बड़े ज़ोर से खिलखिलाकर हँस पड़े। बादशाह ने हँसी का कारण पूँछा। आप बोले, हरिद्वार में इस समय कुम्भ का मेला हो रहा है। एक बहुत मोटा बनिया सर पर जलेबियों से भरा थाल रक्खे चला जा रहा है। भारी थाल को दोनों हाथों से रोके है। बीच बाज़ार में उसकी धोती खुल पड़ी। सब लोग हँसने लगे। हमें भी हँसी आ गई। दिल्ली से हरिद्वार आदमी भेजा गया। बात सच निकली। सब लोग सूरदासजी के योगज ज्ञान के क़ायल हो गये। फिर कोई कुछ न बोला। बेगमें भी सन्न रह गईं। जिसे प्रत्यक्ष और अनुमान से परे की वस्तु सामने खड़ी दीखती है, उसके आगे कोई क्या बोले?

संसार में सबसे सूक्ष्म, सबसे शक्तिशाली और सबसे अधिक आनन्द का स्थान है ब्रह्म। 'न तत्र मनो गच्छति न वाग्गच्छति'—'अणोरणीयान्'—'यस्य ज्ञानमयं तपः'—'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'—'स उ आनन्द-याति'—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इन वेदवाक्यों से ब्रह्म का सूक्ष्मत्व, ज्ञानमयत्व, शक्तिमयत्व और आनन्द-मयत्व सिद्ध होता है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ;
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।"

INTRODUCTION.

Nobody, having the least knowledge of Indian affairs, would deny that at the present day the Āyurveda (the Indian System of Medicine) is in a most neglected condition. In fact, the political downfall of India has brought in its train general deterioration in other domains as well, and along with other things, the Indian Medical System has also suffered a great deal. Mahomedan supremacy had already given it a set back and the finishing stroke was given by the British rule in India. But there are silver linings in the black clouds. Some of the fair-minded British Doctors have from time to time acknowledged freely the superiority of Āyurveda in many respects, and this fact has contributed not a little in keeping alive what little we have now left to us in Āyurveda. Āyurveda has suffered attacks after attacks, but if it still holds its own against so many odds, it is solely due to its intrinsic worth. Truth, however suppressed and covered by falsehood, will never be lost and will shine forth as bright as before, no sooner the cover of delusion is removed. Fortunately for it, some awakening in the minds of the Indians has taken place and they are doing their best to establish the claims of Āyurveda for a fair treatment. But their difficulties are very great. Allopathy has got the support of Western Science, and not only does the Government provide every facility for its improvement—it

इत्यादि स्मृतियों से भी यही बात समर्थित होती है। योगियों का सम्पूर्ण परिश्रम और तमाम उद्योग ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये ही होता है। ब्रह्म का दर्शन होने के बाद योगी के आनन्द की सीमा नहीं रहती। उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और सम्पूर्ण आशाएँ सफल हो जाती हैं। इस परम आनन्द के समय सफलमनोरथ और आनन्दनिमग्न योगी के हृदय से जो उद्गार निकलते हैं उनका चित्र—'दृष्टं द्रष्टव्यं, प्राप्तं प्राप्तव्यं, क्षीणः क्लेशपर्वा भव संक्रमः'—इत्यादि मार्मिक शब्दों द्वारा योग-दर्शन के व्यासभाष्य में खींचा गया है।

'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्;
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।'

इत्यादिक वचनों से भी उस आनन्द की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है। परन्तु इस आनन्द (ब्रह्म-साक्षात्कार) तक पहुँचते-पहुँचते योगी को बहुत समय लगता है—अनेक जन्म इसी के चक्कर में खपाने पड़ते हैं—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'
(गीता)

इसके आगे तो मोक्ष ही है। परन्तु इसके पहले योगी को बहुत कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जो सांसारिक दृष्टि में बहुत बड़ा महत्त्व रखती हैं, किन्तु ब्रह्म-दर्शन के मार्ग में विघ्नस्वरूप ही मानी गई हैं। यदि योगी इनके फेर में पड़ा तो मोक्ष से हाथ धो बैठता है। उसे देवताओं के दर्शन होते हैं, अप्सराओं से भेंट होती है, सब रत्नों की प्राप्ति होती है ('सन्तोषप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' यो० द०)।

सब देशों और लोक-लोकान्तरों में घूमने की शक्ति प्राप्त होती है, यह सब कुछ होता है परन्तु इनमें आसक्त होने या इनकी प्राप्ति में घमण्ड करने से फिर ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता (तत्र सङ्गस्मयाऽकरणम्...योग द०)।

इस प्रकार शक्ति और सिद्धि के तारतम्य से योगियों के भी अनेक भेद होते हैं। किसी की शक्ति और सिद्धि अधिक होती है किसी की कम। जिसकी जितनी सामर्थ्य है, उसके शब्द की प्रामाणिकता भी उतनी ही मानी जाती है। जहाँ तक जिसने देखा और समझा है, वहीं तक उसका शब्द प्रमाण है, आगे नहीं। परन्तु ये सभी शब्द प्रत्यक्ष और अनुमान की मान-मर्यादा से परे हैं। चरक-संहिता में आप्तों का यह लक्षण लिखा है—

'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलज्ञानमव्याहतं सदा॥ १८॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां ज्ञानमसंशयम्।'
(चरक, सूत्र० ११ अ०)

यहाँ तक जीवों के 'शब्दप्रमाण' की बात हुई। जीवों के आगे भी एक कोटि है, जिसे ईश्वर कहते हैं। क्लेश, कर्म, विपाक और आशयरूप बन्धनों से जकड़ा होने के कारण जीव का ज्ञान अति संकुचित और कलुषित रहता है, किन्तु इनसे अत्यन्त अस्पृष्ट (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, यो० द०) होने के कारण ईश्वरीय ज्ञान अत्यन्त निर्मल और व्यापक होता है। इस ईश्वरीय ज्ञान का पता वेदों (ईश्वरीय वाक्यों) से लगता है। परन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान—जिनकी सामर्थ्य जीव के शब्दप्रमाण से ही पहले क्षीण हो चुकी थी—उनके यहाँ

तक पहुँचने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। ऋग्वेद पर भाष्य लिखते हुए श्रीसायणाचार्य ने इसी आशय का एक पद्य उद्धृत किया है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते ;
तमर्थं वेद वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ।'

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जिसके जानने का कोई उपाय नहीं है वह बात वेदों के द्वारा जानी जाती है, यही वेदों का वेदत्व (शब्दप्रमाणत्व) है।

विना विवाह के जिस स्त्री के साथ समागम करना पातक समझा जाता था, विवाह के अनन्तर उसी का सहवास प्रतिमास आवश्यक हो जाता है। 'ऋतौ भार्यामुपयात्' की यही आज्ञा है। परन्तु विवाहित और अविवाहित दशा में उस स्त्री में कोई विशेषता न प्रत्यक्ष से दीखती है न अनुमान से। वैदिक संस्कार (विवाह) के पहले उस स्त्री का शरीर जैसा था, वैसा ही विवाह के बाद भी रहता है। ऐसी कोई बात नहीं दीखती जो विवाह-संस्कार विना किये ही एकसाथ रहने पर न हो सकती हो। फिर अविवाहित दशा के समागम में पाप क्यों? केवल प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। शब्दप्रमाण ही इसका उत्तर दे सकता है।

वेद कहता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखनेवाला यज्ञ करे। परन्तु न तो स्वर्ग किसी को दीखता है न यज्ञ का स्वर्ग के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही दीखता है। वेद में लिखा है कि तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा शूद्रयोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं

वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा, (छान्दोग्य० ५।१०।७।) अर्थात् जिन लोगों का आचरण (अनुशय) पवित्र और उत्कृष्ट है वे ऊँची योनि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों) में जन्म पाते हैं एवं जिनका आचरण 'कपूय' (गर्हित) है वे नीच योनि (कुत्ता, सूअर, चाण्डाल आदि) में जन्म पाते हैं। अब यदि प्रत्यक्ष से देखें तो ब्राह्मण और चाण्डाल के शरीर में हाथ, पैर, नाक, कान, चमड़ी, हड्डी आदि सब समान हैं। अनुमान के लिये भी कोई विशेष साधन नहीं है। पिछले कर्म किसके कैसे हैं, यह किसी को दीखता नहीं। फिर यह कैसे माना जाय कि सत्कर्म के फल से, ब्राह्मणादि योनि प्राप्त होती है और असत्कर्म के बल से चाण्डालादि योनि में जाना पड़ता है? प्रत्यक्ष और अनुमान से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। वेद में लिखा है—शब्द प्रमाण है—इसलिये मानना पड़ता है।

चार वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व तो प्रसिद्ध ही हैं। इन चार वेदों के चार उपवेद भी हैं—अर्थवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। आज हमें आयुर्वेद के ही सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार करना है।

हम पहले कह चुके हैं कि वही शब्द प्रमाण माना जाता है जिसके कहनेवाले पर आप्तत्व का निश्चय हो। छली कपटी आदमी के कहे हुए शब्द प्रमाण नहीं माने जाते। वेदों की प्रामाणिकता इसीलिये है कि वे ईश्वर के कहे हुए हैं। परन्तु संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं जो वेदों को ईश्वरीय आदेश नहीं मानते। उनके मत से दूसरे ही पुस्तक (कुरान इञ्जील आदि) ईश्वर के बनाये या भेजे हुए हैं। ऐसे लोग वेदों को प्रमाण क्यों मानेंगे? बहुत से ऐसे भी सज्जन हैं

जिन्हें ईश्वर पर ही विश्वास नहीं है वे ईश्वरवाद को केवल एक ढकोसला समझते हैं। उन्हें वेद या अन्य किसी अज्ञात शक्ति की बात पर विश्वास दिलाना और भी टेढ़ी खीर है। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में इस प्रकार के लोगों का समाधान करने के लिये भी एक रास्ता बताया है। वे कहते हैं—'मन्त्र युर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' वेदों में जहाँ स्वर्ग, जन्मान्तर आदिक अप्रत्यक्ष और अतर्क्य वस्तुओं के सम्बन्ध की बातें हैं, वहाँ कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिनकी सत्यता और यथार्थता का प्रमाण शीघ्र ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसी प्रकार आयुर्वेद के सम्बन्ध की भी बहुत सी बातें वेदों में विद्यमान हैं, जिनका फल प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मन्त्रों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। साँप आदि का विष तथा सफ़ेद कोढ़ आदि दूर करने के लिये कुछ मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। अनेक रोग दूर करनेवाली औषधियों की भी चर्चा वेदों में है। आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली और भी बहुत सी बातें वेदों में हैं जिनका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है, और ऐसा चमत्कारक फल देखा जा सकता है जिससे बुद्धि आश्चर्य में पड़ जाय। जब मन्त्र और आयुर्वेद का प्रामाण्य (यथार्थता) निश्चित हो चुका—वेद के एक अंश की सत्यता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी—तो शेष अंश की सत्यता का अनुमान भी इसी के आधार पर किया जा सकता है। पूर्वोक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—

"किं पुनराप्तानां प्रामाण्यम्। साक्षात्कृतधर्मता, भूतदया, यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माण इदं हातव्यमिदमस्य हानिहेतुरिदमस्याधिगन्तव्यमिदमस्याधिगमहेतु-

रितिभूतान्यनुकम्पन्ते। तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वयमनवबुद्ध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति। न चाऽनवबोधे समीहा वर्जनं वा—न वाऽकृत्वा स्वस्तिभावो नाप्यस्यान्य उपकारकोप्यस्ति हन्त, वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्त इमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्तीति।............दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेन आयुर्वेदेन अदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति.............य एवाऽऽप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्, इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेद प्रामाण्यमनुमातव्यमिति।"

अर्थात्—"आप्त पुरुषों का आप्तत्व यही है कि वे वस्तु के तत्त्व का पूरा ज्ञान रखते हैं, प्राणियों पर दया करते हैं और ठीक ठीक बात बताने की इच्छा रखते हैं। उन्हें त्याज्य और ग्राह्य वस्तुओं का यथावत् ज्ञान होता है। वे त्याज्य वस्तु के त्याग और ग्राह्य वस्तु के ग्रहण का ठीक ठीक उपाय भी जानते हैं। अज्ञानबहुल जनता को देखकर उनके हृदय में यह दया उत्पन्न होती है कि विना उपदेश के ये अज्ञानी जीव अपना हित और अहित नहीं समझ सकते, और विना समझे हित की प्राप्ति और अहित के त्याग का उपाय भी नहीं कर सकते। एवं विना उपाय के इनका कल्याण भी नहीं है। और कोई इन्हें बतानेवाला भी नहीं है। अच्छा हो कि हम इन्हें यथार्थ ज्ञान का उपदेश करें, जिसके अनुष्ठान से इनको इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार हो सके।"

यह ऋषियों की बात हुई। ईश्वर इन सबसे अधिक दयामय है। उसका उपदेश (वेद) भी इन्हीं कारणों से इसी प्रकार का होता है। उसमें आयुर्वेद का उपदेश—प्रत्यक्ष सिद्ध

सत्य है। अतः उसी के द्वारा शेष अप्रत्यक्ष अंश (स्वर्ग आदि) की सत्यता का अनुमान किया जा सकता है।

जो आप्त—ईश्वर और ऋषि—वेद और वेदार्थ के द्रष्टा और वक्ता हैं, वे ही आयुर्वेद के भी द्रष्टा और वक्ता हैं अतः आयुर्वेद की तरह सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

महर्षि गौतम की उक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध है कि वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में आयुर्वेद का बड़ा हाथ है क्योंकि आयुर्वेद का फल परलोक में नहीं होता। यहाँ तो 'इस हाथ दे उस हाथ ले' का नक़द सौदा है। उधार का काम नहीं। पुरोहितजी को दी हुई गौ परलोक में वैतरणी पार कराती है, परन्तु वैद्यजी की दी हुई पुड़िया दस-पाँच मिनिट के अन्दर ही गले में अड़े कफ को हटाके बोलने लायक़ बनाती है। 'फलेन परिचीयते' का मामला है। जो कुछ होना है वह प्रत्यक्ष होके रहता है। आज इसी आयुर्वेद के सम्बन्ध में हम कुछ बातें पाठकों की भेंट करनी हैं।

शास्त्रों में वेद तथा आयुर्वेद की उत्पत्ति सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से ही मानी गई है। सुश्रुतसंहिता में यह बात यों लिखी है—'इह खल्वायुर्वेदमुपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः' अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने से पहले ही ब्रह्मा ने अथर्व वेद के उपवेद आयुर्वेद का निर्माण सहस्र अध्यायों में किया। 'किन्तुततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् तद्यथा शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रम्, रसायनतन्त्रम्, वाजीकरणतन्त्रमिति।' फिर आगे होनेवाले जीवों की थोड़ी आयु और थोड़ी बुद्धि देखकर आयुर्वेद के शल्य, शालाक्य आदि आठ

विभाग कर दिये जिनमें अपनी अपनी रुचि के अनुसार लोग निपुणता प्राप्त करने लगे।

आयुर्वेद का प्रथम अंग है—

१—'शल्यतन्त्र' यन्त्र (चिमटी, सलाई, संडासी आदि) शस्त्र (नश्तर, कैंची आदि), क्षार (यवक्षार आदि तथा एसिड प्रभृति), अग्नि (कास्टिक आदि) के द्वारा व्रणों की चिकित्सा करना, शरीर में छिपे शल्यों को ढूँढ निकालना, बाहर से किसी कारण शरीर में पहुँची हुई हानिकर वस्तु—काँटा, लकड़ी, लोहा, धूल, हड्डी, कंकड़, सीसा आदि—को तथा छिपे हुए पीब आदि को निकाल बाहर करना, गुप्त व्रणों का पता लगाना आदि कार्य शल्य-चिकित्सा के अन्तर्गत होते हैं। 'सुश्रुतसंहिता' शल्य-चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ है।

२—'शालाक्य चिकित्सा' शलाकाओं के द्वारा की जाती है। इसमें अनेक धातुओं की और अनेक परिमाणों की शलाकायें (सलाइयाँ) बनाई जाती हैं। इनसे गर्दन से ऊपर के—आँख, नाक, कान, दाँत, सिर आदि के रोग दूर किये जाते हैं। किस रोग में किस प्रकार की बनी शलाका का किस रूप में विधान किया जाना चाहिये। जैसे—१ भाग सोना २ भाग चाँदी आधा भाग तूतिये का ताँबा और सात भाग शुद्ध सीसा मिलाके एक सलाई बनाना फिर उसे गरम करके अनेक बूटियों के रस में सौ सौ—पचास पचास बुझाव देना इत्यादि। इस प्रकार की सलाइयाँ आँखों में फेरने से भिन्न भिन्न रोगों में भिन्न भिन्न रूप से लाभदायक होती हैं और कोई कोई गरम करके विशेष रगों को दाग देने में भी काम आती हैं। इनका काम

प्रधानतया गरदन से ऊपर के रोगों में पड़ता है । यह 'शालाक्य तन्त्र' का विषय है ।

३—'कायचिकित्सा' सम्पूर्ण अङ्ग से सम्बन्ध रखनेवाली बीमारियाँ—ज्वर, अतीसार, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा (तपेदिक़), पागलपन, मिरगी, कोढ़, प्रमेह आदि—का इलाज जिसके द्वारा यथावत् सम्पन्न होता है, वह सब प्रक्रिया 'काय-चिकित्सा' के अन्तर्गत है । चरक, वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय) आदि आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रधानतया कायचिकित्सा के ही प्रतिपादक हैं ।

४—'भूतविद्या' आयुर्वेद का चौथा अङ्ग है । इसमें देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, भूत, चुड़ैल, वेताल, कूष्माण्ड, भैरव आदि अनेक प्रकार की देवयोनि और वायवीय शरीरों का वर्णन, उनकी पहचान, उनसे आक्रान्त रोगी के लक्षण, उनके दूर करने के उपाय—जप, होम, दान, बलि आदि का वर्णन रहता है ।

५—'कौमारभृत्य' गर्भ के दिन से लेके गर्भ की रक्षा करना, गर्भ के उपद्रव और उसके विकारों को पहचानना, गर्भिणी को किस किस महीने में कौन कौन सी बीमारियाँ होती हैं और उनमें किस किस प्रकार चिकित्सा की जाती है, साधारणतया किन किन बातों से किस किस दशा में गर्भिणी को बचाना चाहिये और कौन कौन सी उसकी इच्छायें अवश्य पूरी करनी चाहिये । प्रसवक्रिया (बच्चे जनाने की विधि)—बच्चा पैदा हो जाने के बाद प्रसूता और शिशु की देख रेख का विधान, माता और धाय के दूध की परीक्षा, दूध की बीमारियाँ, दूध को शुद्ध करने के उपाय, बिगड़े हुए दूध से उत्पन्न हुई बच्चे की बीमारियों का इलाज,

बच्चे के ग्रह आदि का प्रशम इत्यादिक अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश जिस चिकित्सा में रहता है उसे 'कौमारभृत्य' कहते हैं। यह आयुर्वेद का पाँचवाँ अङ्ग है।

६—'अगदतन्त्र' का सम्बन्ध विषों और उपविषों से है। कालकूट, हलाहल आदिक स्थावर और जङ्गम विषों तथा उपविषों का वर्णन, उनकी पहचान और प्रभाव, दो विषों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले परिणाम, एक विष और एक उपविष के संयोग का फल, स्थावर और जङ्गम विष-विशेष का नतीजा, भिन्न भिन्न पशु पक्षियों पर विषों के भिन्न भिन्न प्रभाव का परिचय (जैसे विषैली वस्तु से मक्खियों का मरना, मोर का प्रसन्न होना, चकोर की आँखों में वैराग्य होना, भ्रमर का गूँज उठना, बन्दर का खाते ही शौच करना, तोता मैना का विकृत शब्द करना आदि); राजा को विष देनेवाले की परीक्षा, राजा के भोजन में विष की परीक्षा, अग्नि और जलों के द्वारा विष की पहचान, दो निर्विष वस्तुओं के मिलने पर उत्पन्न होनेवाला विषैला प्रभाव (जैसे समान मात्रा में मिला हुआ शहद और घी), किसी वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला विष (जैसे ताँबे के बर्तन में रक्खी खटाई), विष खाए हुए रोगी की परीक्षा, विष की विशेषता का निर्णय और सब प्रकार के विषों का इलाज, विष दूर करनेवाली मणि, मन्त्र और ओषधियों का वर्णन, विशेष ग्रह, मुहूर्त्त, नक्षत्र आदि के कारण होने-वाला विषों का प्रभाव इत्यादिक अनेक बातों का ज्ञान 'अगदतन्त्र' से प्राप्त होता है। यह आयुर्वेद का छठा अङ्ग है।

७—'रसायनतन्त्र' इसमें ऐसे प्रयोगों का वर्णन और विधान होता है जिनसे आयु, बल, बुद्धि और स्मृति की

may be said at the cost of other systems—but the people of India also, for one reason or another, have come to recognize it as an up-to-date system, and have become so much prejudiced against Āyurveda that they also join the Europeans in condemning the Indian system as obsolete, out of date and unscientific.

On the 14th of December 1922, in the U. P. Legislative Council, Major Dr. Ranjit Singh, while opposing a resolution with regard to rehabilitation of the Indigenous systems of medicine (Ayurvedic and Unani,) moved by Thakur Manak Singh, delivered a long speech in which he strongly condemned the Ayurvedic system. The learned doctor also challenged the exponents of Indian systems 'to produce one single book in any of those sciences, dealing with pathology, microscopic anatomy, bacteriology or serum therapy.' The Major is a well-known Doctor of long standing and his experiences in this branch, it may be hoped, are great indeed. Thakur Mashal Singh's reply to the Doctor's criticism was admirable no doubt, but it was felt that a systematic refutation of the charges levelled against Ayurveda is the necessity of the day, as in fact the Major represented, in this respect, the views of the modern allopaths in general, and as such his views deserved notice. But in order to meet the objections of the opponents and to establish the superiority of the Ayurvedic system propounded by our sages, it was necessary that a really capable

वृद्धि हो और दुर्बलता के कारण आक्रमण करनेवाली अकाल मृत्यु का भय जाता रहे । एवं अन्त्य समय तक आदमी की सब इन्द्रियाँ अपना अपना काम करने योग्य बनी रहें । रसायन सेवन के पहले और पीछे क्या क्या करना चाहिये, किस प्रकृति के पुरुष को किस ऋतु में कौन सी रसायन उपयुक्त होगी, रसायन के उपद्रव, विकार और उनका प्रशमन इत्यादिक बातें 'रसायनतन्त्र' से सम्बन्ध रखती हैं । यह सातवाँ अङ्ग है ।

८—'वाजीकरणतन्त्र' इसमें विशेष रूप से उन पुरुषों की चिकित्सा का विधान रहता है जिनकी कामशक्ति क्षीण अथवा नष्ट हो गई हो या स्वभाव से ही अल्प हो किंवा दूषित वीर्य होने के कारण सन्तान न होती हो या रोगी सन्तान होती हो अथवा सन्तान होकर जीती न हो। इस प्रकार अल्प वीर्य, दुष्ट वीर्य, क्षीण वीर्य और विशुष्क-वीर्य, पुरुषों को फिर से यौवन प्राप्त करानेवाला तन्त्र 'वाजीकरणतन्त्र' कहाता है । दूषित रजवाली, सन्तान के अयोग्य स्त्रियों की चिकित्सा भी इसी तन्त्र से सम्बन्ध रखती है । यह आयुर्वेद का आठवाँ अङ्ग है ।

इस प्रकार के इस आयुर्वेद का उपदेश सबसे पहले ब्रह्मा ने प्रजापति को किया । प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को और उन्होंने इन्द्र को । इन्द्र से ऋषियों ने सीखा और चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं का निर्माण किया ।

सुश्रुत में इस परम्परा का वर्णन इस प्रकार है—

"ब्रह्मा प्रोवाच, ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहं (दिवोदासः काशिराजः) मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ।"

चरकसंहिता में भी लिखा है—

"ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः ;
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः ।
अश्विभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे ह केवलम् ;
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ।"
"ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितम् ;"

वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय) ने भी इसी परम्परा का वर्णन किया है।

"ब्रह्मा स्मृत्वायुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत् ;
सोऽश्विनौ, तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ।"

चरकसंहिता में लिखा है कि इन्द्र से भरद्वाज ने पढ़कर आत्रेयादि महर्षियों को बताया और वाग्भट ने सीधे इन्द्र से ही आत्रेयादिकों का पढ़ना लिखा है। इन दोनों बातों में चरक की ही बात अधिक उपपन्न है। एक तो चरकसंहिता आर्ष ग्रन्थ है, फिर स्वयम् आत्रेय महर्षि के कहे हुए उपदेशों का उनके प्रधान शिष्य (अग्निवेश) द्वारा किया हुआ वह (चरकसंहिता) संग्रह है । उसमें जब आत्रेय स्वयम् अपने मुँह से कहते हैं कि इन्द्र से भरद्वाज ने और भरद्वाज से हमने सीखा तो फिर उसके विरुद्ध किसी की बात नहीं मानी जा सकती। अतः विरोध-परिहार के लिये "सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन्" की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये । "स (इन्द्रः) भरद्वाजद्वारा अत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् आयुषो वेदम् अजिग्रहत्" अर्थात् इन्द्र ने भरद्वाज के द्वारा आत्रेय आदि मुनियों को आयुर्वेद का ग्रहण कराया।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि शास्त्रकार लोग सृष्टिकर्ता और वेदविधाता विधाता (ब्रह्मा) से ही आयुर्वेद की उत्पत्ति या प्रादुर्भाव मानते हैं। आयुर्वेद की सत्यता प्रत्यक्ष सिद्ध है,

अतः इसी आधार पर वेदों के शेष अंश की सत्यता का प्रतिपादन महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में किया है।

चाहे दुर्दैव के कोप से, चाहे ज्ञान के शत्रु उन्मत्त मुसलमानों की विकराल इस्लामी ज्वालाओं से, चाहे हमारे आलस्य और अकर्मण्यता से, चाहे कलिकाल के प्रभाव से या किसी और कारण से आज अन्य ज्ञानभण्डार की तरह समस्त उपवेद भी नामशेष हो गये हैं। उपवेद बहुत कुछ थे, यह तो आज भी अनेक ग्रन्थों से पता चलता है, परन्तु वे क्या थे, यह बतानेवाली वैदिक पुस्तकें आज नहीं मिलतीं। 'धनुर्वेद', 'अर्थवेद', 'गान्धर्ववेद' और 'आयुर्वेद' के नाम ही सुनाई देते हैं। इस नाम की वैदिक काल की कोई पुस्तक नहीं मिलती। तथापि चाहे अपने सौभाग्य से समझिये चाहे ईश्वर की कृपा से समझिये, उपवेद के न मिलने पर भी वेदों में आयुर्वेद की सामग्री आज भी बहुत कुछ उपलब्ध होती है। अर्थवेद, धनुर्वेद की तरह इसका अत्यन्त विलोप नहीं हुआ है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि चरक और सुश्रुत-संहिताओं में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। परन्तु एक मत ऐसा भी है जो अथर्ववेद का पृथक् वेदत्व स्वीकार नहीं करता, अपितु 'त्रय्युपसंहारोऽथर्ववेदः' यह मानता है। वेद तीन ही हैं, अतएव उनका नाम 'त्रयी' है। 'वेदत्रय ब्राह्मणम्' 'त्रयी विद्या च शाश्वती' 'त्रयं ब्रह्मसनातनम्' 'त्रय्युपसंहारः' इत्यादिक अनेक प्रामाणिक सन्दर्भों में तीन ही वेद माने हैं। अथर्व इन्हीं तीन के अन्तर्गत है। उसे अलग नहीं मानते। यह बात नहीं है कि उसे वेद ही न मानते हों। इस मत में आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना

जाता है। महर्षि कात्यायन ने 'चरणव्यूह' में लिखा है कि 'ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदः।' आयुर्वेद के सम्बन्ध की बहुत सी बातें भी ऋग्वेद और अथर्ववेद में ही अधिकता से पाई जाती हैं। उन्हीं में से कुछ मन्त्र हम पाठकों के विवेचनार्थ उपस्थित करेंगे।

वैदिक मन्त्र उपस्थित करने से पहले हम यह उचित समझते हैं कि वेदार्थ करने की प्रक्रिया का कुछ निर्देश कर दिया जाय, जिससे वेदमन्त्रों का अर्थ समझने में सुगमता हो।

हम यह कह चुके हैं कि वेद ईश्वरीय वाक्य हैं, अतएव ईश्वरीय कार्यों की जो विशेषता है उसका वेदवाक्यों में पाया जाना भी स्वभावसिद्ध है। आप यदि किसी मनुष्य को एक लोटा पानी देकर छिड़कने को कहें, तो वह एक कमरे में, एक मकान में, एक गाँव में यहाँ तक कि एक शहर में भी थोड़ा थोड़ा करके छिड़क सकता है, परन्तु यदि एक घड़ा पानी लेकर किसी से कहें कि इसे एक लोटे में बन्द कर दो, तो यह मनुष्य की शक्ति से बाहर है। थोड़ी वस्तु का विस्तार कर देना मनुष्य को साधारण शक्ति में है, परन्तु बड़ी वस्तु को अति सूक्ष्म रूप दे देना ईश्वर का ही काम है। निहायत नन्हे से बीज में वट (बरगद) के महावृक्ष को बन्द कर देना मनुष्य की शक्ति में नहीं है। यह ईश्वर का ही काम है। और नीम की एक छोटी सी शाखा से महीनों तक बड़ों पानी (मद) बरसाना भी ईश्वर ही की लीला है। प्रकृति के एक एक कण में और जंगल की एक एक पत्ती में कितने जौहर छिपे हैं, यह कौन बता सकता है? सृष्टि के आदि से बराबर खोजी लोग खोज

कर रहे हैं। आज भी वही खोज बड़े ज़ोरों से जारी है। परन्तु प्रकृति के पेट से नित नये आविष्कार निकलते चले आ रहे हैं। जनता को आश्चर्यचकित और अवाक् कर देनेवाली बातें थोड़ी बहुत सदा निकलतीं रहीं और सदा निकलती रहेंगी, परन्तु प्रकृति के पेट का पार किसी को कभी न मिलेगा। ईश्वर ने कितनी कितनी शक्तियाँ प्रकृति के किस किस भाग में छिपा रक्खी हैं, इसका अन्त मनुष्य कभी न पायेगा। वह दिन कभी न आयेगा जब सांसारिक मनुष्य यह कह सके कि अब मुझे कुछ जानना बाक़ी नहीं है। मैं आदि से अन्त तक प्रकृति के पूर्ण रहस्यों से परिचित हूँ। सारांश यह कि थोड़े में बहुत शक्तियाँ अन्तर्हित करना ईश्वर का ही काम है। वेदों में भी यह बात पूर्ण रूप से विद्यमान है। साँप आदि का विष उतारनेवाले तथा कोढ़ आदि दूर करनेवाले मन्त्रों की बात हम कह चुके हैं। किस वेदमन्त्र के किस प्रकार कितना जप करने से क्या फल होता है, यह भी एक बहुत बड़ा विषय है। तमाम यज्ञ और समस्त कर्मकाण्ड इसी के अन्तर्गत हैं। यह तो हुई वैदिक शब्दों की बात। अब उनके अर्थों पर ध्यान दीजिये। वेदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें कोई रूढि या योगरूढि शब्द नहीं है। जितने शब्द हैं सबके सब यौगिक हैं। संसार की किसी पुस्तक में यह विशेषता न है, न हो सकती है।

यौगिक शब्द अपने योगार्थ के अनुसार अनेक जगह लगाया जा सकता है, परन्तु रूढि शब्दों की शक्ति किसी एक वस्तु में ही समाप्त हो जाती है। कल्पना कीजिये कि आपका एक नौकर है, जिसका नाम डल्लू है। अब यह

शब्द (डल्लू) उस आदमी के सिवा और किसी का बोध नहीं करा सकता। इसके अक्षरों का कुछ अर्थ नहीं है। यह रूढि शब्द है। यह केवल एक आदमी का नाम है। उसी के लिये रूढि से प्रयुक्त होता है।

दूसरा शब्द है पाचक। इसमें 'पच्' धातु है, जिसका अर्थ है पकाना और ण्वुल् प्रत्यय का अंश 'अक' है जो कर्तृत्व का बोधक है। इस प्रकार पाचक शब्द का अर्थ हुआ पकानेवाला। अब यदि डल्लू आपकी रोटियाँ पकाता है, तो उसे पाचक कह सकते हैं। और यदि देवदत्त आपका बावर्ची है, तो उसे भी पाचक कह सकते हैं। चाहे कोई पकानेवाला हो पाचक कहायेगा। इसके सिवा सूर्य को भी पाचक कह सकते हैं, क्योंकि वह खेती और फलों को पकाता है। आयु के द्वारा मनुष्य के बालों को पकाता है। यहाँ तक कि सारे संसार को पकाता है। जिस पुल्टिस या मरहम के द्वारा आपका फोड़ा पकता है वह भी पाचक कहाता है और बुख़ार पचाने का काढ़ा भी पाचक कहाता है। भात पकाने के कारण आपके चूल्हे की अग्नि भी पाचक है और खाई हुई रोटियाँ हज़म करने के कारण आपके पेट की अग्नि भी पाचक है। यहाँ तक कि यदि रोटियाँ हज़म न हों और जठराग्नि को किसी मददगार की ज़रूरत पड़े तो वह चूरन भी पाचक कहाता है। इसी प्रकार और भी पाचक हो सकते हैं। यौगिक होने के कारण जैसे 'पाचक' शब्द अनेक अर्थों (वस्तुओं) का बोधक होता है वैसे 'डल्लू' नहीं हो सकता। यह तो रूढि है और आपके उसी कालेकलूटे बेडौल विहङ्गम नौकर का ज्ञान कराता है, और बस। यही रूढि और यौगिक शब्दों का भेद है।

यौगिक होने के कारण ही वेद के प्रत्येक शब्द का निर्वचन—प्रकृतिप्रत्ययविभाग—आवश्यक है। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने वैदिक शब्दों के निर्वचन पर ज़ोर देते हुए कहा है—'प्रकृतिसाम्यात् प्रत्ययसाम्यादक्षरसाम्याद् वर्णसाम्याद् यथा कथंचन निर्ब्रूयात् नत्वेव न निर्ब्रूयात्।' सारांश यह कि यौगिक होने के कारण समस्त वैदिक शब्दों का निर्वचन करना आवश्यक है। यदि वैदिक शब्द यौगिक न होते तो उनमें वह विशेषता नहीं हो सकती थी जिसकी चर्चा अभी हम कर चुके हैं। थोड़े शब्दों में बहुत अर्थों का समावेश—जो कि ईश्वरीय विशेषता है—तभी सम्भव है जब वैदिक शब्दों में रूढि का प्रवेश न हो। अन्यथा सब वैदिक शब्द ठूंठ होकर रह जायेंगे।

वैदिक मन्त्रों से कई प्रकार के अर्थ निकलते हैं। उनका समन्वय अनेक पक्षों में किया जाता है। अनेक महर्षियों और आचार्यों ने इस बात का समर्थन किया है। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने अनेक जगह ऐतिहासिक, याज्ञिक और नैरुक्त नाम से वैदिक मन्त्रों में तीन पक्षों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पक्षों में भी वैदिक मन्त्रों का समन्वय होता है। भूलोक, अन्तरिक्षलोक और आदित्यलोक के देवताओं के भेद से भी वेदमन्त्रों के तीन तीन अर्थ होते हैं। इन नौ पक्षों के सिवा और भी कई पक्ष हैं।

यथा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य,
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।

इस वेदमन्त्र को व्याकरण महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि

ने व्याकरणपरक लगाया है और निरुक्तकार महर्षि यास्क ने यज्ञपरक लगाया है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की एक श्रुति है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।'

इसका अर्थ है—दो 'सुपर्ण' सुन्दर पंखोंवाले (पक्षी) हैं, जो 'सयुज्' साथ रहनेवाले और 'सखा' मित्र हैं। वे एक ही वृक्ष पर विद्यमान हैं। इनमें से एक तो सुस्वादु 'पिप्पल' फल खाता है और दूसरा कुछ न खाने पर भी अधिक प्रकाशमान है। द्वैतवाद और अद्वैतवाद के बीच में यह श्रुति क़िले की दीवार की तरह खड़ी है। दोनों ओर से इस पर बड़े बड़े ज़ोर लगाये जाते हैं। दोनों ने इसकी आध्यात्मिक पक्ष में व्याख्या की है। संसार ही एक वृक्ष है। जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं। इनमें से जीवात्मा संसार के सुख-दुखरूप फलों को भोगता है। परमात्मा इन्हें नहीं भोगता परन्तु जीवात्मा से अधिक प्रकाशमान है इत्यादि।

इस मन्त्र का एक आधिदैविक अर्थ भी होता है। निरुक्त में लिखा है 'सुपर्णाः सुपतनाः सूर्यरश्मयः' अर्थात् 'सुपर्ण' शब्द 'सु' पूर्वक 'पत्' धातु से बना है और इसका अर्थ है सूर्य की किरणें। चूँकि सूर्य की किरणें भी शीघ्रगामी (सुपतन) होती हैं अतः उन्हें सुपर्ण कहा जाता है। और 'पिप्पल-मित्युदकनाम' तृप्तिकारी होने के कारण जल को 'पिप्पल' कहते हैं। अब उक्त मन्त्र के शब्दों को देखिये। 'द्वा' दो प्रकार की 'सुपर्णा' सूर्य की किरणें हैं। जो 'सयुजा' परस्पर युक्त रहती हैं और 'सखायः' सहैव आकाशे वर्तन्ते आकाश में साथ-साथ चलती हैं। समानं वृक्षं परिषस्वजाते एक ही वृक्ष (सूर्य)

पर परिष्वक्त (संसक्त) रहती हैं 'तयोरेकः' उनमें से एक 'पिप्पलं' जल को 'स्वादु अत्ति' स्वाद के साथ खाती है और 'अनश्नन् अन्यः' दूसरी खाती नहीं किन्तु 'अभिचाकशीति' प्रकाश करती हैं। आज वैज्ञानिकों के घोर परिश्रम और सतत अन्वेषण से यह सिद्ध हो चुका है कि सूर्य की समस्त किरणें प्रकाश नहीं करतीं, न सबमें जलाकर्षण शक्ति है। जल का आकर्षण करनेवाली किरणें दूसरी हैं और प्रकाश करनेवाली दूसरी। परन्तु वैज्ञानिकों के विज्ञान और योगियों के योग के सिवा साधारण जनता इस बात को न प्रत्यक्ष से देख सकती है न अनुमान से जान सकती है। वह चाहे वेद के शब्दों को प्रमाण माने चाहे वैज्ञानिकों के शब्दों पर विश्वास करे। उसके लिये शब्द प्रमाण के सिवा कोई चारा नहीं। इसी से कहते हैं—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते।
तमर्थं वेद वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।'

वेदों का वेदत्व यही है कि उनसे वह बात जानी जाती है जिसे न प्रत्यक्ष से जान सकते हैं, न अनुमान से। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अनेक अर्थ और अनेक समन्वय होने पर भी वैदिक शब्दों की सरलता अक्षुण्ण बनी रहती है। यह बात किसी मनुष्य की कृति में सम्भव नहीं है। लौकिक श्लेषालङ्कारों की तरह वैदिक शब्दों में न कहीं तोड़ मरोड़ की आवश्यकता पड़ती है, न खेंचातानी की। सीधा, सच्चा और सरल मार्ग है। इन सब बातों से यह सिद्ध है कि पक्षों की अनेकता, अर्थों की गम्भीरता, भावों की अगाधता, प्रत्यक्ष और अनुमान की अगम्यता एवं शब्दों की सरलता वेदों के अलौकिकत्व या ईश्वरीयत्व का पूरा

प्रमाण है। एवं समस्त शब्दों की यौगिकता उनकी (वेदों की) अनन्य साधारण विशेषता है। जैसे छोटे से बीज में महा-वृक्ष छिपा रहता है या छोटे से फ़ोटो में बड़े बड़े पर्वत, वन, नदी और नगरों का स्पष्ट आभास रहता है उसी प्रकार थोड़े शब्दों में बहुत अर्थों का समावेश कर देना उनका ज्वलन्त ऐश्वर्य है। वेदमन्त्रों पर मनन करते समय और उनका अर्थ सुनते, समझते समय इन बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है। इनसे विरुद्ध अर्थ प्रामाणिक नहीं हो सकता।

रोग का अधिष्ठान और परिहार

वैदिक सिद्धान्त के अनुसार समस्त संसार दो भागों में बटा है, जड और चेतन। परमाणु से लेकर पर्वत पर्यन्त वे सब वस्तुएँ जड जगत् के अन्तर्गत हैं जिनमें सुख, दुःख, ज्ञान और इच्छा आदि गुणों का अभाव है। काई, सिवार आदि से लेकर बड़े बड़े वनस्पति और महावृक्षों पर्यन्त स्थावर जीव और छोटे छोटे कीड़े मकोड़ों से लेकर देवता पर्यन्त जङ्गम जीव चेतन जगत् के अन्तर्गत हैं। इन चेतन प्राणियों के तीन अंश हैं, आत्मा, मन और शरीर। इनमें से आत्मा तो सदा शुद्ध, निर्मल, नीरोग, निर्विकार, नित्य और चैतन्य स्वरूप है। इसमें न कभी कोई रोग, दोष होता है, न हो सकता है। रोग के अधिष्ठान दो ही हैं, मन और शरीर। मन में भी जब तक सत्त्वगुण प्रधान रहता है तब तक कोई विकार उसके पास नहीं फटकने पाता। शान्ति और ज्ञान का साम्राज्य बना रहता है। हाँ, रजोगुण और तमोगुण का ज़ोर होने पर उसमें रोगों का दौरदौरा शुरू होता है। रजोगुण से काम, अहङ्कार, मद, ईर्ष्या, असूया आदि और तमोगुण से क्रोध, द्वेष, निद्रा, आलस्य, भय आदिक विकार मन में पैदा होते हैं।

person should undertake the task. For such an undertaking not only Ayurvedic knowledge and experience are necessary but a thorough knowledge of the other Shastras, besides Ayurveda, is imperative. In fact for this purpose one should not only be an eminent Vaidya but also a Pandit of the first rank. He must possess a penetrating intelligence and a sharp wit and sound learning. For this undertaking our choice could not but fall on Pandit Shālagrāmaji Shastri, Vidya Vachaspati, etc., etc., who, besides being an experienced and eminent Vaidya, is one of the greatest Pandits of India and as such is pre-eminently fitted for this kind of work.

Naturally, he was requested by a number of his admirers and friends to undertake the task. But, as he was pre-occupied in various other activities, he could not accede to the importunity of the friends, and it was only in December last—after a lapse of nearly 3 years and it was not thought yet to be too late—that he made up his mind to meet the objections of the learned Doctor in the form of a small article. But when once he began his work, he did it in a manner worthy of himself. The result is a book of nearly 300 pages. We welcomed it all the more, as it was felt necessary that in order to understand properly the Indian system of medicine one must possess some knowledge at least of the methods adopted by the Indian sages in expounding their theories. He begins with the *Pramánas*—Perception, Inference and *Agama*. He has then examined in

चरक ने आत्मा की निर्विकारता के और शारीरिक, मानसिक दोषों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

'शरीरं सत्त्वसंज्ञं (मनः) च व्याधीनामाश्रयोमतः ॥ ५४ ॥

'निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ॥ ५५ ॥

'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च' ॥ ५६ ॥

शारीरिक और मानसिक रोगों का उपाय भी चरक ने अति संक्षेप में लिखा है—

'प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुतिव्यपाश्रयैः ।
मानसो ज्ञान, विज्ञान, धैर्यस्मृतिसमाधिभिः' ॥ ५७ ॥

(चरक, सूत्र०, अ०१)

शारीरिक रोग की चिकित्सा औषधों से और मानसिक रोग की चिकित्सा ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति तथा समाधि से होती है। धर्म और वैराग्य का उपदेश देनेवाले शास्त्रों का ज्ञान, योगाभ्यास के द्वारा आत्मा का विज्ञान, "आत्मानं चेद् विजानीयाद् हमस्मीति पूरुषः—किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंज्वरेत्," विपत्तियों में धैर्य और कर्तव्याऽकर्तव्य की स्मृति एवं समाधि मानसिक रोग दूर करने के उपाय हैं। 'समाधि' का अर्थ है संयम। संयम एक प्रकार की तपस्या है। इससे सभी का बल बढ़ता है। यदि आप आँख का संयम करें—सब विषयों से हटाकर कुछ देर तक किसी एक ही जगह उचित रीति से नज़र जमायें—तो आपकी दृष्टि में असाधारण शक्ति पैदा हो जायगी। यहाँ तक कि विशेष अभ्यास हो जाने पर यदि आप किसी की ओर कड़ी नज़र से देख दें, तो वह बेहोश भी हो सकता है। संग्रहणी के रोगी, जिन्हें कोई चीज़ हज़म नहीं होती,

हलकी से हलकी किसी एक ही वस्तु पर संयम रक्खें, उसके सिवा और कुछ न खायें, तो निःसन्देह उनकी पाचन शक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार मन को विषयों से हटाकर किसी एक जगह जमाकर रोकने से मानसिक शक्ति बढ़ती है।

शारीरिक रोग

संसार में अनेक देश हैं जिनकी जल वायु परस्पर भिन्न है। उनमें रहनेवाले जीवों के आहार, विहार और आचार, विचार भी अलग अलग हैं। इन्हीं कारणों से उनमें होनेवाले रोग भी भिन्न भिन्न हैं। इसके सिवा प्राणियों के कर्म भी असंख्य प्रकार के हैं जिनके कारण नित्य नई बीमारियों का आविर्भाव होता रहता है। पुरानी बीमारियों में से बहुत सी ऐसी हैं जो अब कहीं देखने में नहीं आतीं और नई अनेक ऐसी हैं जिनका पुरानी पुस्तकों में कहीं नाम निशान तक नहीं मिलता। संसार की किसी चिकित्सा-पद्धति में न ऐसी कोई पुस्तक है, न हो सकती है कि जिसमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी रोगों की चर्चा हो। यह असम्भव है। इसी कारण महर्षि चरक ने लिखा है—

'विकारनामाऽकुशलो न जिह्नीयात् कदाचन ;
नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति निदर्शनम् ।'

अर्थात् किसी रोग का नाम न बता सकना कोई लज्जा की बात नहीं है, क्योंकि सब रोगों का नाम-निर्देश कहीं है ही नहीं। जब सब रोगों का नाम ही नहीं है, तो उनके लक्षण कहाँ से होंगे? जो बच्चा अभी पैदा ही नहीं हुआ है, जिसके होने की कोई सम्भावना ही नहीं है उसका नामकरण कैसा? फिर उसके स्वरूप का वर्णन, उसकी तन्दुरुस्ती का हाल तो और भी असम्भव है। जो रोग अभी

पैदा ही नहीं हुए हैं उनके नाम और लक्षण कैसे? जब रोगों के नाम तक का पता नहीं है, तो उनकी चिकित्सा का क्या ज़िकर? और जब चिकित्सा की सर्वाङ्गीणता ही नहीं है, तो उसकी सम्पूर्णता कैसी? अब आप इसी प्रश्न को सामने रखकर संसार-प्रसिद्ध समस्त चिकित्सापद्धतियों की समालोचना कर देखिये।

लक्षणों के लिहाज़ से होम्योपैथी चिकित्सा आज संसार में अपना सानी नहीं रखती। सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणों का बाज़ बाज़ जगह तो ऐसा मार्मिक चित्र खिचा मिलता है कि जिसे देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है। जिस समय किसी औषध का चुनाव करते हुए ठीक जगह दृष्टि पहुँच गई और रोगी में वे लक्षण पूरे पूरे मिल गये तो फिर चिकित्सक के आनन्द का पारावार नहीं रहता। उस समय चिकित्सक में इतनी दृढता और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है—उसके मन में इतनी मज़बूती आ जाती है—कि वह रोग को तुच्छ समझने लगता है। रोग को वह एक ऐसा शत्रु समझने लगता है कि जिसके प्राण उस (चिकित्सक) की मुट्ठी में आ गये हों। फिर यदि लक्षण मिल गये, औषध का चुनाव ठीक ठीक हो गया एवं उसकी मात्रा और शक्ति (Potency) भी रोग के अनुरूप पड़ गई, तो काम भी 'रामबाण' का होता है। एक ही खुराक में बीमारी का खात्मा समझिये। दूसरी की ज़रूरत न रहेगी। परन्तु इन सब लक्षणों का मिलान और दवा की शक्ति आदि का अनुसन्धान इतना कठिन है कि बड़े बड़े डॉक्टरों को भी अपने जीवन भर में दो एक बार ही ऐसी सफलता प्राप्त होती है। बाक़ी सब अन्दाज़ी गुल्ला चलता

है। जो डॉक्टर सौ पचास रोगियों को रोज़ देखता है वह सब लक्षणों पर कहाँ तक ध्यान दे सकता है ? फिर जो अनबोल बच्चों का इलाज करता है उसे रोगी के हृदय का हाल क्या मालूम होता होगा ? लक्षणों की अधिकता का यह सबसे बड़ा दोष है। ऊँचे दर्जे की किताबों में इतनी अधिक बातें हैं कि उन सबका मिलना ही दुष्कर हो जाता है। जब रोगी की दशा जल्दी जल्दी बदल रही हो वहाँ तो और भी मुश्किल पड़ जाती है। हमें एक ऐसे रोगी को देखने का अवसर पड़ा है जिनके पिता बड़े अच्छे होम्योपैथ थे। उनके कई मित्र भी होम्योपैथी के अच्छे ज्ञाता थे। रोगी की दशा क्षण क्षण में बदल रही थी। जाकर देखा तो चार आदमी बड़ी बड़ी पुस्तकें खोले ध्यान लगाये बैठे हैं। हमने मन में सोचा कि क्या ये लोग गरुड़पुराण खोले बैठे हैं ? या कुरान शरीफ़ का ध्यान कर रहे हैं ? पूँछने पर मालूम हुआ कि रोग के लक्षण मिलाये जा रहे हैं। परन्तु जहाँ कुछ लक्षण मिलते हैं, तो थोड़ी ही देर बाद बदल भी जाते हैं। इससे कोई दवा निश्चित नहीं हो पाती। फिर ऊँचे दर्जे की कोई दवा देने के बाद उसके असर के लिये यथेष्ट समय देना आवश्यक है। बीच में यदि दशा बिगड़ी, तो दूसरी दवा देने से अनिष्ट की बड़ी आशङ्का रहती है। उस समय यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह बिगड़ी हुई दशा दवा के प्रभाव का फल है या रोग के रूपान्तर धारण करने का परिणाम है। इसके सिवा कुछ दवाइयाँ परस्पर विरोधी हैं। यदि उनमें से कोई एक के बाद दूसरी पड़ गई तो बन्दूक़ की गोली का काम करती है। साधारण जनता

में यह प्रसिद्ध है कि होम्योपैथी दवा से कुछ हानि नहीं होती। परन्तु यह मूर्खता है। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं हो सकती जो विपरीत पड़ने पर हानि न करे। यदि होम्योपैथी दवा में कुछ शक्ति है, तो वह हानि भी अवश्य कर सकती है। यह बात होम्योपैथी के बड़े बड़े आचार्यों ने स्वीकार की है कि विपरीत पड़ी हुई दवा के प्रभाव से रोगियों के प्राण बचाना असम्भव हो गया। फिर होम्यो-पैथी का तो जन्म ही इस आधार पर हुआ है। ऊँचे दर्जे की दवा एक भले चंगे आदमी को खिलाते हैं। वह बीमार पड़ता है और जो जो बातें अपने कष्ट के सम्बन्ध में बताता है वह नोट कर ली जाती हैं। जहाँ वे सब बातें मिलेंगी उस रोग में वही दवा काम करेगी जिसने अच्छे भले आदमी में उक्त लक्षण उत्पन्न किये थे। अब प्रश्न यह है कि क्या आप संसार की सब वस्तुएँ खिला खिलाकर उनके समस्त लक्षण कभी जान भी सकेंगे ? यदि आपने इस प्रकार की पुस्तकों से दस बीस मालगाड़ियाँ भर भी दीं तो उन सबको पढ़नेवाला कहाँ से आयेगा ? इतनी स्मरण शक्ति रखनेवाला मनुष्य कहाँ मिलेगा जो उन सबको याद रख सके और समय पड़ने पर झट उन्हीं लक्षणों के अनुसार दवा दे सके फिर यह सब कुछ होने पर भी तो आप मुख्य रोग तक नहीं पहुँच पाते ! आप तो केवल बाहरी लक्षण मिलाते हैं। यदि अपना ठीक ठीक हाल कह सकनेवाला रोगी नहीं है—जैसा कि बहुधा होता है—तो सब कुछ उलट पुलट हुआ समझिये। असली रोग से आपको कुछ मतलब नहीं। किस दवा के खाने से क्या लक्षण हुए थे यही आपकी पुस्तकों में लिखा है।

उन लक्षणों का सम्बन्ध शरीर के किस विकार से है? उसका कारण क्या हुआ करता है? उसके उपद्रव और प्रधान अंश कौन कौन हुआ करते हैं? इन बातों से आपको कुछ सरोकार नहीं। जब वर्तमान काल के रोगों में ही इतनी बड़ी असुविधा है, जितनी दवाइयाँ निकल चुकी हैं उन सब पर अधिकार रखनेवाला भी कोई होम्योपैथ आज नहीं है, तो भूत और भविष्यत् के रोगों की बात चलाना ही व्यर्थ है। निदान यह सिद्ध है कि होम्योपैथी में भूत, भविष्यत्, वर्तमान के समस्त रोगों को जानने, समझने और उनकी चिकित्सा करने की कोई क्षमता नहीं है। हाँ, कुछ जनरल मेडिसिन (General Medicine) साधारण औषध अवश्य हैं जिनके आधार पर छोटे दर्जे के लोग काम चलाते हैं। भारत में होम्योपैथी की अधिक प्रसिद्धि और प्रचार का प्रधान कारण उसकी दवाओं का अत्यन्त सस्ता होना और चिकित्सामार्ग की अत्यन्त सरलता है। जिसे देखिये, वही पाँच रुपये का बकस मँगाकर डॉक्टर बना बैठा है। न विशेष पढ़ने लिखने की ज़रूरत है न विशेष बुद्धिमान् होने की आवश्यकता। किसी दफ़्तर में नौकरी भी कर लीजिये और इलाज भी करते जाइये। कोई काठकवाड़ की दूकान भी खोल लीजिये और डॉक्टर भी बनते जाइये। जूते भी गाँठते जाइये और दुर्गापाठ भी करते जाइये। न कूट पीस की दिक़्क़त न घोट छान की क़िल्लत। दवा सीधे विलायत से मँगाइये और शीशी भर पानी के मरीज़ों मँगाइये, आप सिर्फ़ बूँद टपकाते जाइये, बस, इलाज खत्म जलचिकित्सा, रश्मिचिकित्सा आदि की चर्चा हम अ चलकर करेंगे।

अब ज़रा ऐलोपैथी की ओर भी कटाक्षपात कीजिये। अपने वैज्ञानिकत्व पर नाज़ करनेवाली और संसार की तमाम चिकित्सा-पद्धतियों को तुच्छ तथा अवैज्ञानिक (Unscientific) बतानेवाली यह अलबेली नवेली तो विलायती होने पर भी इस प्रश्न को सुनते ही लम्बा घूँघट काढ़ने लगती है। इसकी राय में तो यह कोई सवाल ही नहीं है। ऐसा प्रश्न करना ही नादानी है, बल्कि मूर्खता है। जिस सवाल का जवाब ऐलोपैथी नहीं दे सकती वह कोई सवाल ही नहीं और जिस रोग का इलाज यह नहीं कर सकती वह कोई रोग ही नहीं एवं जो बात ऐलोपैथी के सिद्धान्तों के अन्तर्गत नहीं वह विज्ञानसम्मत (Scientific) नहीं। इसे चाहे दुर्दम अहङ्कार कहिये, चाहे वेढव ढिठाई कहिये, चाहे सपत्नी डाह कहिये, चाहे विज्ञान का अज्ञानपूर्ण दुःसाहस कहिये, पर है यह प्रत्यक्षर सत्य। आज ऐलोपैथ लोग दूसरी चिकित्सापद्धतियों की निन्दा करने और अपना घमण्ड बघारने में जितने 'सहस्रमुख' हो जाते हैं उतना दूसरी चिकित्सापद्धतियों का अनुयायी कदापि नहीं होता। संसार की कोई भी वस्तु निर्दोष या निर्गुण नहीं है, परन्तु ऐलोपैथी को यदि दूषित कहा जाय, तो इसके अन्धभक्त (या आशिक़ मिज़ाज पिछलगू) डॉक्टर साहबान कहनेवाले के पेट में नश्तर भोंकने को ज़रूर उतारू हो जायँ।

ऐलोपैथी ने शल्यचिकित्सा (सर्जरी) में जो आश्चर्यजनक उन्नति की है उसे कौन नहीं स्वीकार करता? करोड़ों रुपये ख़र्च करके हज़ारों विद्वानों के अथक परिश्रम से जो तत्त्व आविर्भूत हुए हैं उनकी अवहेला करना सूर्य पर धूल फेंकने के समान होगा। शल्यचिकित्सा में तथा रोगी को

आराम पहुँचाने के लिये जो प्रशंसनीय कार्य ऐलोपैथी ने किये हैं उनका आदर न करना हृदयहीनता का द्योतक होगा। उससे जो संसार का कल्याण हुआ है उसे हम बड़े आदर और गौरव के साथ मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। मलमूत्रपरीक्षा, रुधिरपरीक्षा, कीटाणुवीक्षण और एक्स-रेज़ आदि के ज्ञान को हम प्रत्येक चिकित्सक के लिये आवश्यक समझते हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ऐलोपैथी के सिद्धान्तों को राजयक्ष्मा की चिकित्सा के लिये भी हम उतना ही उपयोगी समझते हैं जितना एक ऑपरेशन के लिये।

'कायचिकित्सा' (जिसका वर्णन पहले हो चुका है) के मार्ग में ऐलोपैथी अभी बिलकुल दुधमुँही बच्ची है। किसी नये रोग के उद्भूत होने पर पाश्चात्य चिकित्सकों के हाथ पैर फूलने लगते हैं। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे वे बिना हानि पहुँचाए उस नवीन रोग का प्रतीकार पा सकें। बहुत से अटकलपच्चू कोई दवा दे बैठते हैं। उससे यदि अचानक लाभ हो गया तो खैर, वरना खातमा!! पिछले दिनों जब इन्फ्लूएंज़ा शुरू हुआ तो उसमें ऐलोपैथी चिकित्सा एकदम व्यर्थ सिद्ध हुई। भारत के ५४ लाख (अन्त में मालूम हुआ कि एक करोड़ के लगभग) आदमी इस महामारी में स्वाहा हो गये और 'ज़िम्मेदार' 'साइन्टिफ़िक' चिकित्सा मुँह ताकती रह गई। हमने एक रिटायर्ड सिविल सर्जन (हिन्दुस्तानी सज्जन) को कुछ दिनों बाद रोगियों को एकदम लङ्घन का आदेश देते और दवा में तुलसीदल, कालीमिर्च, मुनक्का बताते देखा। हमने आश्चर्य से पूछा कि लङ्घन कराने के लिये तो वैद्य लोग बदनाम थे। आप यह क्या कर रहे हैं?

फिर दवा भी ठेठ हिन्दुस्तानी !!! उन्होंने उत्तर में निष्कपट भाव से उदारतापूर्वक यह स्वीकार किया कि हमारी कोई दवा काम नहीं करती बल्कि उलटी हानि करती है (इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम आगे देंगे) और इस तरह क़रीब क़रीब सबको लाभ होता है, अतः जब तक एलोपैथी की किसी ठीक दवा का अनुसन्धान न हो जाय तब तक हम यही देना उचित समझते हैं।

जिस तरह कहीं कहीं अच्छे हुए रोगियों की सूची बनाई और प्रकाशित की जाती है, इसी प्रकार नये इञ्जेक्शनों और औषधों के प्रयोगों में या इनफ़्लूएंज़ा जैसे अवसरों पर ऐलोपैथी की कृपा से कितने रोगियों की मृत्यु या कष्टजनक अवस्था होती है, इसका यदि पूरा पूरा ब्यौरा संगृहीत और प्रकाशित किया जाय, तो निःसन्देह जनता के आगे ऐलोपैथिक चिकित्सा का भण्डाफोड़ हो जाय। एक कुनैन को ही लीजिये। क्या इसका किसी को पता है कि कुनैन से कितने रोगियों का अहित हुआ है? इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह ज्वर को निर्मूल न करके केवल दबा देती है। यदि रोगी की प्रकृति प्रबल है और वह बाक़ी बचे मीठे ज्वर को निकालने में समर्थ हुई तब तो ख़ैर, वरना वह मीठा मीठा ज्वर कुछ दिन बाद क्षय का रूप धारण कर लेता है—और साइन्टिफ़िक चिकित्सा (ऐलोपैथी) उस समय नो मेडिसिन् (No Medicine) की घोषणा कर देती है। और भी अनेक रोग ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में ऐलोपैथी के चिकित्साग्रन्थों में No Medicine (इसकी कोई दवा नहीं है) लिखा है। ऐलोपैथ लोग ऐसे रोगियों को हाथ में लेने पर कहीं दिल को सम्हालते हैं, कहीं पाखाने, पेशाब

की ओर ध्यान देते हैं, कहीं नींद, भूख पर व्याख्यान देकर रोगी को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं, कहीं बाह्योपचार (Nursing) की व्यवस्था देते हैं, लेकिन यह बहुत कम बताते हैं कि हमारे यहाँ इसका कोई इलाज ही नहीं है।

इस पर हमारे सहयोगी ऐलोपैथ साहबान कह सकते हैं कि हमारी चिकित्सापद्धति तो वैज्ञानिक (Scientific) है। हम साइंस के द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं कि रोगी के खून में एक प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु (Germs) पैदा हो गये हैं। और उस प्रकार के कीटाणुओं को एक काँच नली (Tube) में इकट्ठा करके उनके ऊपर होनेवाले कुनैन के संहारक प्रभाव को भी हम प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं। जब उन कीटाणुओं का नाश करने में कुनैन का प्रभाव प्रत्यक्ष हो चुका, तो फिर संसार में किसकी हिम्मत है जो हमारा विरोध कर सके? हमारी चिकित्सा आयुर्वेदिक चिकित्सा की तरह अनाड़ी की सी बन्दूक तो है नहीं जो आँख मीच-कर जिधर जी में आया ठूँस दी। न वैद्यजी को यह तमीज़ होती है कि उनके नुसखे की दवाओं का शरीर के भीतर क्या असर होता है और क्यों होता है? न उन्हें यह तमीज़ होती है कि रोगी के शरीर में कौन सा विष या किस प्रकार के कीटाणु पैदा हो गये हैं? बस उन्होंने झूँठ मूँठ के लिये नाड़ी पकड़ी और बाहरी एकाध बात सुनकर किताब में से अंट संट कोई नुसखा लिख मारा। रोगी मरे या जिये उनकी बला से। उनके पास न थर्मामेटर है न स्टेथस्कोप। न कीटाणु देखने का कोई साधन है, न विष के पहिचानने का कोई उपाय है। न कोई और साइन्टिफ़िक सामान है जिससे वे रोगी या औषध की असलियत की जाँचकर सकें। रोगी

detail the other systems, Homeopathy, Unani and Allopathy and compared these with the Ayurvedic system.

Arguments advanced by Allopaths against Ayurveda.

The possible arguments that can be raised by the exponents of allopathy in its favour and against Ayurveda are elaborately dealt with in the book. We give below an outline of that portion of the book, which sets forth, clearly and without any bias, all the possible arguments that can be raised by exponents of allopathy in condemning Ayurveda and establishing its own superiority over other systems :—

"Allopathy is scientific and through science we can demonstrate that in the blood of a certain patient there is present a kind of bacteria (germs). After putting together these germs in a glass tube, we can show the destructive effects of quiuine on them. When quinine has thus established its quality of destroying these germs, its efficacy becomes unquestionable. Our system is not, like Ayurveda, the gun of a novice that may blindly shoot in any direction without taking a proper aim. The Vaidyas do not know what effects their medicines bring about on the body and why. They are absolutely ignorant of poison or germs that have been produced in the body. They pretend to know the disease by feeling the pulse, and from one or two outward symptoms, at once write down a prescription from the book. They never care whether the patient survives or

अपनी तक़दीर से बचे, तो बचे वरना ये अवैज्ञानिक (Unscientific) चिकित्सक—वैद्य, हकीम, होम्योपैथ आदि—रोगी को मार डालने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखते। ये सब यमराज के एजेंट हैं जो लोगों को मारने में उनकी (यमराज की) मदद करते हैं।

आज करोड़ों रुपये लगाकर वैज्ञानिकों ने बड़ी बड़ी विज्ञानशालायें (Laboratory) बनवाई हैं। लाखों रुपये वेतन पानेवाले अनेक धुरन्धर विद्वान् उनमें अन्वेषण करते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म बात ढूँढ निकालने के लिये हज़ारों यन्त्र वहाँ विद्यमान रहते हैं। सैकड़ों नित नये आविष्कार किये जाते हैं। आज संसार में उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है। फिर ये पुराने ढर्रे के वैद्य लोग जिन्हें वाक़ई 'गँवार' कहना चाहिये उनका ऐलोपैथी के आगे सर उठाना वैसा ही है जैसा सूर्य के आगे जुगनू का टिमटिमाना और पंख मारना।

यह हम मानते हैं कि ऐलोपैथी भी सर्वांशपूर्ण नहीं है, परन्तु उसमें जो कुछ है वह अनुपम है, अद्वितीय है, प्रत्यक्षर सत्य है और सर्वथा साइंस के अनुकूल है। ऐलोपैथी की नींव साइंस पर अवलम्बित होने के कारण उसके सिद्धान्त अटल हैं। इसमें होम्योपैथी की सी अप्रामाणिक, अनर्गल, निराधार बातें नहीं हैं। इसमें यह नहीं माना जाता कि एक सेर दवा से एक बूँद दवा में हज़ार गुनी ताक़त अधिक है और एक बूँद का लाखवाँ हिस्सा तो अनन्त शक्तिशाली है। न इसमें आयुर्वेद की सी असाध्य कपोलकल्पना ही है। आयुर्वेद में आदि से अन्त्य तक वात, पित्त, कफ के ही राग अलापे हैं। परन्तु क्या कोई वैद्य शरीर में से ऑपरेशन करके उन्हें निकाल

सकता है ? क्या हिन्दुस्तान भर में एक भी वैद्य ऐसा है ? क्या कोई वैद्य यह बता सकता है कि ये वात, पित्त, कफ क्या बला हैं ? द्रव्य, गुण, कर्म आदि में से किसमें इनका अन्तर्भाव है ? क्या किसी के लक्षण इनमें मिलते हैं ? सांख्यशास्त्र के अनुसार सत्त्व, रजस्, तमस् से संसार की उत्पत्ति हुई है । परन्तु क्या कोई वैद्य इन गुणों में अपने वात, पित्त, कफों को अन्तर्गत कर सकता है ? सत्त्वगुण से कोई रोग, दोष नहीं पैदा हो सकता । परन्तु वात, पित्त, कफ इन तीनों से रोग पैदा होते हैं । फिर इनसे और सत्त्व-गुण से क्या सम्बन्ध ? चरक ने तो रजस् और तमस् से वात, पित्त, कफ को बिलकुल अलग बताया है । उन्होंने साफ़ लिखा है 'रजस्तमश्च मानसौ दोषा.........वातपित्तश्लेष्माण-स्तु खलु शारीरा दोषाः' (चरक विमान० ६ अ०) क्या अब भी किसी वैद्य की हिम्मत है जो इन्हें एक कह सके ? फिर इन के लक्षण भी तो नहीं मिलते । चरक के विमानस्थान में आठवाँ अध्याय देखिये । कफ के गुणों में मन्दत्व, स्तैमित्य, और गुरुत्व को गिनाया है, जो तमोगुण का स्पष्ट चिह्न है । साथ ही कफप्रकृति पुरुषों को विद्यावान्, ओजस्वी, बलवान्, धनवान् और बुद्धिमान् भी बताया है । सबसे उत्तम गुण इन्हीं में बताये हैं । अब कहिये कफ को तमोगुण के अन्तर्गत मानियेगा या सत्त्वगुण के ? वात और पित्त का भी यही हाल है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है कि आँखों में आलोचक पित्त रहा करता है । क्या कोई वैद्य है जो ऑप-रेशन करके कहीं आँखों में पित्त के दर्शन करा सके ? कहीं इनके रहने की अलग अलग जगह बताई है और कहीं सब शरीर में इन्हें व्यापक बताया है । यह क्या गोरखधन्धा

है ? ऐसी ही और भी अनेक बातें हैं, जो न विज्ञान से सिद्ध हो सकती हैं न युक्ति से। 'गुडूच्यादि क्वाथ' की प्रशंसा है कि 'सर्वज्वरविनाशनः'। यदि इसी एक से सब ज्वर दूर हो जाते हैं, तो और औषधों के लिखने की आवश्यकता ही क्या है ? एक एक दवा की बेहद तारीफ़ के पुल बाँधे हैं। आकाश पाताल के कुलाबे मिलाये हैं। क्या वह सब सच है ? क्या च्यवनप्राश के सब गुण आज कोई वैद्य प्रत्यक्ष करा सकता है ? ऐलोपैथी में ऐसी धींगा-धींगी कहीं नहीं है। जो कुछ है 'बावन तोला पाव रत्ती' है, अतः ऐलोपैथी के सदृश चिकित्सापद्धति न आज संसार में कोई है, न हो सकती है। रही अपूर्णता की बात, वह सदा सबमें रहेगी। संसार में पूर्ण कुछ भी नहीं।

सम्भव है, हमारे इन शब्दों में किसी को कठोरता की शिकायत हो, परन्तु हमने यह जान बूझकर किया है। जब तक वादी और प्रतिवादी के हृदय की असली बात सामने न आ जाय तब तक विचार की परिपूर्णता नहीं कही जा सकती। यदि किसी को मनुष्य के हृदय में घुसकर देखने की सामर्थ्य हो और वह बाहर की बनावटी सभ्यता, शिष्टता चीरकर ऐलोपैथी के अनुयायियों के हृदय की तह में देख सके, तो निःसन्देह ये ही शब्द—बल्कि इनसे भी कठोर शब्द—पायेगा। हम भी यहाँ उनका छिपाना अनावश्यक समझते हैं। और थोड़ी दूर तक इस वाद-विवाद में दोनों ओर के विचारों को नंगे रूप में पाठकों के विवेचनार्थ उपस्थित करना उचित समझते हैं।

यदि पूर्वोक्त कथन को ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो उसमें दो अंश प्रतीत होंगे। इनमें पहले का सम्बन्ध ऐलोपैथी

का महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली अनेक बातों से है और दूसरे अंश का सम्बन्ध अन्य चिकित्साप्रणालियों की हीनता, अपूर्णता और हेयता सूचित करनेवाली बातों से है। इन दोनों अंशों पर हम यथाक्रम विचार करेंगे।

हम एलोपैथी चिकित्सा के अभिनन्दनीय, आदरणीय एवं अनुकरणीय गुणों का उल्लेख कर चुके हैं। अब हम उसके दूसरे पक्ष (Dark side). का निरीक्षण करना चाहते हैं। हाँ, तो हम कुनैन की चर्चा कर रहे थे। हरिद्वार के समीप एक ब्रह्मचर्याश्रम में कई वर्षों तक रहने के कारण कुनैन के दुष्परिणामों का हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। मलेरिया ज्वर की अधिकता के साथ साथ कुनैन की मात्रा भी वहाँ—'जस जस सुरसा वदन बढ़ावा; तासु दुगुन कपि रूप दिखावा' के अनुसार बढ़ाई जाती थी। २०-३० ग्रेन कुनैन का बढ़िया मिक्सचर एक ही बार में नाक पकड़कर गले के नीचे उतार दिया जाता था (नाक पकड़ने से बच्चे साँस के साथ दवा निगल जाते हैं, अन्यथा कड़वी जानकर थूक देते हैं) इसका परिणाम तुरन्त यह होता था कि कुनैन खानेवाला वेदान्त का कूटस्थ ब्रह्म बनकर रह जाता था। सब इन्द्रियाँ शून्य! आँखों से दीखना बन्द, कानों से सुनना बन्द, और दिमाग से समझना बन्द—निराकार ईश्वर से एक ही दर्जा कम। यदि डॉक्टर साहब से कुछ कहा तो वहाँ एक ही जवाब, 'दूध पियो'। लेकिन वहाँ पे... में ठिकाना नहीं। फिर कई दिन तक दूध पीते रहने... अरुचि इतनी कि उसके नाम से घृणा। यदि कोई दू... दवा पूछिये, तो साइन्टिफ़िक चिकित्सा की ओर से को... जवाब। कुछ दिन कुनैन का अत्याचार जारी रहने से य...

आँखें कमज़ोर हो गईं, तो चश्मा हाज़िर है। यदि थोड़ी थोड़ी हरारत रहने लगी और तकलीफ़ न गई, तो थर्मामेटर की नोक के बल से बुख़ार नार्मल सिद्ध कर दिया गया। ज्यादा बात बढ़ी तो जलवायु परिवर्तन का आदेश हो गया। चलो छुट्टी हुई।

लेकिन इस कुनैन के अत्याचार से ब्रह्मचर्य की जड़ पर जो कुल्हाड़ा चल गया उसकी किसी को कानों कान खबर तक न हुई। कुछ तो लड़कों ने लज्जावश किसी से कहा नहीं। यदि किसी ने साहस किया भी तो 'यह तो हुआ ही करता है' कहकर समाधान कर दिया गया। कुनैन से वीर्य-दोष भी हो सकता है, इस बात पर विचार करने की आवश्यकता भी डॉक्टर साहब ने नहीं समझी। समझें भी क्यों? जब वैज्ञानिक (Scientific) रीति से यह सिद्ध हो चुका है कि कुनैन मलेरिया के कीटाणुओं का नाश करती है तो इसके आगे सोचने की ज़रूरत ही क्या है? मलेरिया के कीटाणुओं का नाश करने के साथ साथ वह और किस किसका नाश करती है, यह तो अभी साइंस ने बताया नहीं है। फिर उधर ध्यान देने से क्या फ़ायदा?

यह बात प्रत्यक्ष है कि हरएक आदमी का सात्म्य एक नहीं है। एक ही चीज़ सबको अनुकूल नहीं पड़ती। किसी को दूध पिये बिना पाख़ाना साफ़ नहीं होता और किसी के पेट में दूध पीते ही हवा भरनी आरम्भ हो जाती है। कोई रोज़ अरहर की दाल खाता है, पर किसी के गले में उसके खाते ही जलन होने लगती है। एक आदमी रोज़ उड़द की दाल और घुइयाँ हज़म करता है, पर दूसरा जब कभी खा लेता है तो पेट पकड़े फिरता है। एक आदमी

रोज़ चाय पीता है, कस्तूरी खाता है और अण्डे भी उड़ाता है परन्तु दूसरा इनमें से कोई चीज़ खा ले तो खुश्की के मारे परेशान हो जाय, नाक से खून गिरने लगे और सर घूमने लगे। शिलाजीत किसी आदमी को क़ब्ज़ करता है और किसी को साफ़ पाखाना लाता है। न सबको चावल मुआफ़िक़ है, न सबको गेहूँ चना अनुकूल पड़ता है। न सब फल हरएक की प्रकृति के अनुरूप हैं न केसर कस्तूरी आदि दवायें एक रूप में सबको सात्म्य हैं। यह और बात है कि शरीर की बलिष्ठता और जवानी के जोश के कारण कोई आदमी सब तरह की चीज़ों पर हाथ साफ़ कर जाय या प्रतिभा और अनुभव की मन्दता के कारण अपने ऊपर हुए प्रभाव का स्पष्ट वर्णन न कर सके, परन्तु यह सम्भव नहीं कि हरएक आदमी पर सब भोज्य वस्तुओं का एकसा ही प्रभाव पड़े। खीर और संखिया खाने पर एक ही सा असर करे यह कैसे हो सकता है? इन सब बातों से स्पष्ट है कि मनुष्य के भीतर कुछ ऐसी भिन्न भिन्न शक्तियाँ हैं जो संसार की सभी बाह्य वस्तुओं के साथ सहयोग नहीं कर सकतीं। फिर एक कुनैन ही भारत के बत्तीसों करोड़ आदमियों की प्रकृति के अनुकूल पड़ जाय, यह कैसे हो सकता है?

विदेशों का हाल हम नहीं जानते। परन्तु भारत में तो सभी डॉक्टर आँख मींचकर कुनैन का प्रयोग करते हैं। हम पूँछते हैं कि क्या कोई डॉक्टर कुनैन देते समय रोगी की प्रकृति का विचार करता है? क्या कोई एलोपैथ यह बता सकता है कि कुनैन में वह कौन सी बात है जिससे वह किसी को हानि ही न करे?

संसार के सभी द्रव्यों में भिन्न भिन्न रस, गुण, वीर्य हुआ करते हैं। क्या कुनैन इनसे मुस्तस्ना है? यदि नहीं तो इसके गुण और वीर्य क्या हैं? यदि यह शीतवीर्य है, तो ठण्डी प्रकृतिवाले को कैसे अनुकूल पड़ सकती है? और यदि उष्णवीर्य है, तो गरम प्रकृतिवाले को कैसे अनुगुण हो सकती है? आखिर गर्म, खुश्क, सर्द या तर इसका कोई मिज़ाज है या नहीं? वह कौन सी युक्ति है जिसके बल पर यह सब प्रकृति के मनुष्यों पर आँख मीचकर बरसाई जाय? सच बात तो यह है कि पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति में इस प्रकार विचार करने की शैली ही नहीं है। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक प्रकृति के साथ औषध और पथ्य के द्रव्यों की प्रकृति का सामञ्जस्य करना ही असली चिकित्सा है, इस बात की ऐलोपैथी को अब तक तमीज़ ही नहीं है। उसकी जड़ साइंस जड़ वस्तुओं में ही परिसमाप्त है और उसी से वह अपने को कृतकृत्य समझती है। एक जड़ पदार्थ (कुनैन) का प्रभाव दूसरे जड़ पदार्थ (मलेरिया के कीड़ों के शरीरों) पर क्या पड़ता है, इसको जड़ साइंस ने अपने जड़ साधनों (Mycroscope आदि) से जाना और उसी को चेतन प्राणियों पर आज़माना शुरू कर दिया। परन्तु प्राणियों में जड़ शरीर के अतिरिक्त दो अंश और भी हैं जिन्हें आत्मा और मन कहा जाता है। प्राणी के शरीर की बनावट में उस (आत्मा) के कर्मों (पाप, पुण्य) और मन के गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) का प्रधान प्रभाव रहता है। जो चिकित्सा इन बातों का विचार करने में असमर्थ है, वह सदा अधूरी ही रहेगी। परन्तु सामयिक राज्य की अनुकूलता के कारण ऐलोपैथी

अपने दुर्गुणों का दण्ड पाने से भी बची रही और उन्हें छिपा भी सकी है। इतना ही नहीं, राज्य की विपुल सहायता के कारण वह अपना प्रचुर प्रचार भी कर सकी है।

भोगायतनं शरीरम्

आत्मा के कर्मों के भोग का स्थान शरीर है। आत्मा के जैसे प्रारब्ध कर्म हैं उन्हीं के अनुसार उसका शरीर बनता है। जिसे कठोर कर्मों के फल में जन्म भर डण्डे खाने हैं उसे यदि चिड़िया या चूहे का शरीर ईश्वर दे दे, तो वहाँ एक ही डण्डे में शरीर का चूरन हो जाय। बाक़ी डण्डे कौन खाय? इसलिये ऐसे प्राणी को गधे का शरीर ही उपयुक्त है। गधे का शरीर जहाँ धड़ाधड़ डण्डे खा सकता है वहाँ उसका मन भी उस दुःख का सहिष्णु होता है और उस दुःख को अति शीघ्र भुला देने की विलक्षण शक्ति भी गधे को प्राप्त है। ईश्वर का न्याय और दया साथ ही साथ चलते हैं। जहाँ वह कठोर कर्मों का दण्ड देता है वहाँ उनके सहन करने की शक्ति भी देता है। और उसी के उपयुक्त शरीर तथा मन आदि अन्य साधन भी देता है। सिंह को जहाँ नितान्त भयानक और घातक शरीर दिया है वहाँ उसके शरीर में एक ऐसी उत्कट गन्ध भी पैदा कर दी है कि जङ्गल के जीव उसे सूँघकर दूर से ही सावधान हो सकें। साथ ही उसके मन में आलस्य और निद्रा की इतनी अधिकता है कि भरपेट खा लेने के बाद कई कई दिन तक एक ही जगह पड़ा सोता रहता है। कहीं बिल्ली की तरह दिन रात घूमने लगे तब तो दो ही दिन में जङ्गल के जीवों का संहार कर डाले। साथ ही उसे एक सन्तोष की नाड़ी भी प्राप्त है। जहाँ उसका आलस्य

और निद्रा उसे उठने से रोकते हैं और उसका दुर्गन्ध उसके भोजन को दूर से ही भगा देता है वहाँ उसे एक नाड़ी ऐसी भी प्राप्त है कि जिसके सहारे वह २४-२४ दिन तक भूखा रह सकता है। एवं अधिक से अधिक भोजन को शीघ्र ही पचा डालने की सामर्थ्य भी उसे प्राप्त है। मतलब यह कि ईश्वर के न्याय और दया का चमत्कार आप हर जगह देख सकते हैं। चिड़ियों को जहाँ उसने कमज़ोर बनाया है वहाँ तुरन्त उड़ जाने के लिये पङ्ख भी दिये हैं। चूहों का शरीर जहाँ उसने अत्यन्त कोमल बनाया है वहाँ उनके मन में अत्यन्त सतर्कता और बिल खोदने की शक्ति दी है तथा उसके उपयुक्त पञ्जे भी प्रदान किये हैं। साँप का शरीर जहाँ इतना कोमल है कि एक ही झटके में सब गुरिये हिल जायँ और निकम्मा हो जाय वहाँ उसे इतनी शक्ति भी प्राप्त है कि यदि पैरों में लपेट डालकर कस दे, तो फिर भैंस भी नहीं हिल सकती। जहाँ उसका विष भयानक प्राणघातक है वहाँ उसके मुँह की बनावट ऐसी है कि बिना किसी विशेष भय या आपत्ति के खुल ही नहीं सकता। उसे भोजन की दुर्लभता के साथ प्राणायाम करके (दम साधक) पड़े रहने की सामर्थ्य भी प्राप्त है।

जो विचित्रता अन्य प्राणियों में है वह मनुष्यों में भी विद्यमान है। ध्यान देकर देखनेवाला चाहिये। जिसे चोरी की आदत है उसके शरीर में पिटने की सामर्थ्य भी है। जिसके मन में कामशक्ति का वेग बहुत है उसके शरीर में भी यह सामर्थ्य है कि अधिक विषय करने पर भी अन्य पुरुषों की सी दुर्बलता का अनुभव न करे। जिसके मन में वीरता है उसके शरीर में मारने की भी

शक्ति है और मर मिटने की भी सामर्थ्य है, परन्तु चोर की सी निर्लज्जता नहीं है। वीर पुरुष तलवार का घाव सह सकता है पर बात की चोट नहीं सह सकता। एक कथा प्रसिद्ध है कि महाराज विक्रम ने तीन पुरुषों को एक ही अपराध का अपराधी पाकर तीन प्रकार का दण्ड दिया। एक को तो कुछ कड़े शब्द कहकर ही छोड़ दिया। दूसरे को पाँच कोड़े लगाने की आज्ञा दी और तीसरे का सर घुटवाके मुँह काला करके, गधे पर चढ़ाके शहर में घुमाने की आज्ञा दी। आज्ञा का तो पालन हो गया, परन्तु मन्त्रियों में से किसी ने इस भेदनीति का विरोध किया। इस पर महाराज ने दूसरे दिन आज्ञा दी कि उन तीनों का पता लगाया जाय कि अब क्या कर रहे हैं। खोज करने से मालूम हुआ कि जिसे कड़े शब्द कहे थे वह तो डूबके मर गया, जिसके कोड़े लगे थे वह रात में ही शहर छोड़-कर भाग गया और जिसे गधे पर चढ़ाके घुमाया था वह फिर उसी वेश्या की खिड़की के सामने खड़ा खड़ा गा रहा है, जहाँ पहले दिन पकड़ा गया था। जैसे मन में कोम-लता, कठोरता, निर्लज्जता और लज्जा आदि अनेक गुण रहते हैं उसी तरह शरीर में भी उन्हीं से मिलते जुलते गुण रहते हैं। महर्षि चरक ने लिखा है कि—

"शरीरमपिसत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम्"

(च० सं० शारी० ४ अध्याय)

अर्थात् मनुष्य का शरीर उसके मन के अनुसार होता है और मन शरीर के अनुसार होता है। एक आदमी को गुलकन्द खाने से एक दो दस्त हो जाते हैं, दूसरे को हरड़ खाने पर भी थोड़ी कोष्ठशुद्धि होती है और तीसरा

dies. They have neither Thermometres nor Stethescopes. Neither have they any means of observing the germs, nor any method of knowing the poison in the body. Nor have they got any other scientific instrument to examine the real condition of the patient. The patient may, in some cases, survive through his luck, but the unscientific physicians—Vaidyas, Hakims and Homeopaths—leave nothing undone to kill the patient. All of these are, in fact, the agents of Death and as such help him in killing the people.

Nowadays there are great laboratories in which crores of rupees have been invested. Several eminent Doctors, getting thousands of rupees, make researches there. There are hundreds of instruments to examine the minutest details. Thousands of new inventions have been and are being made. There is nobody to-day in the world to stand against them. Then if these old-typed Vaidyas, who are no bettter than quacks, raise their heads against Allopathy it is as ludicrous as the fluttering of a fire-fly in the presence of the sun.

Even admitting that Allopathy is not altogether complete, all that we have to say is that what it has is incomparable and unparalelled. It is based on absolute truth and is in accordance with science, and as such it is eternal. It has not got, like Homeopathy, irrelevant, unauthenticated and baseless principles. This system does not recognize that one drop of medicine is one thousand times more powerful than

जमालगोटा खाने पर भी गाता फिरता है। यदि मृदुकोष्ठ पुरुष को ज़रा सा भी जमालगोटा दे दिया जाय, तो उसे वमन भी हो, मतली भी हो, पेट में ऐंठन, जलन, खुरेचन भी हो, तबियत भी घबराये और दस्तों का तो ताँता बँध जाय। एक आदमी पाखाने में जाते समय साँस रोकता है, मुँह लपेटता है और फिर भी यदि स्थान साफ़ नहीं है, तो घबराने लगता है, लेकिन दूसरा मनों पाखाने के बीच में खड़ा होकर घंटों काम करता है। इन बातों से सिद्ध है कि मन का और शरीर का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक का दूसरे पर अत्यन्त अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि शारीरिक समानता होने पर भी—शरीर के भीतर हड्डी, मांस, रुधिर, जिगर, तिल्ली, फेफड़े, हृदय आदि का रूप, रंग, आकार, प्रकार और क्रियाओं के एक रूप होने पर भी—कुछ छिपी शक्तियाँ ऐसी हैं जिनको हम न तो ऑपरेशन करने पर प्रत्यक्ष कर सकते हैं और न कोरे तर्कों के आधार पर उनका ठीक ठीक निर्णय कर सकते हैं। उनके जानने का वही एक उपाय है—शब्दप्रमाण—जिसकी चर्चा हम आरम्भ में ही कर आये हैं। उनके जानने का वही एक मार्ग है जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्योपायो न विद्यते ;
तमर्थं वेद वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।'

वेद में प्रकृति का वर्णन यों किया है—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।'

एक 'अ-जा'=न उत्पन्न होनेवाली (नित्य प्रकृति) है। वह लाल, काले और शुक्लवर्ण की है। वही संसार की सब

वस्तुओं को उत्पन्न करती रहती है। इसी बात को सांख्य-शास्त्र में स्पष्टरूप से देखिये, तो वहाँ एक सूत्र मिलेगा—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्रा स्थूलभूतान्युभयमिन्द्रियम्।" इत्यादि

अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है। इस प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रायें बनती हैं। इन पञ्चतन्मात्राओं से स्थूलभूतों (परमाणुओं अथवा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) की उत्पत्ति होती है। इन्हीं भूतों से इन्द्रियों (चक्षु, नासिका आदि) की सृष्टि होती है। आत्मा इन सबसे परे है।

वर्तमान साइंस की चरम सीमा परमाणु है। Atoms और Alectrons के आगे अभी तक जड़ विज्ञान नहीं पहुँच पाया है। प्रकृति तक पहुँचने में अभी उसे चार युग (चार दर्जे) पार करने बाक़ी हैं। परन्तु इन सबका पार कर जाना जड़ साइंस के लिये सम्भव नहीं है। यह अधिक से अधिक एलक्ट्रान से एक दर्जे आगे बढ़ सकती है। उसका भी आभासमात्र इसे हो सकता है, स्पष्ट ज्ञान नहीं, क्योंकि वह स्थान जड़ साधनों की पहुँच से परे है। आत्मा और परमात्मा का तो यहाँ ज़िकर ही क्या?

"चे निस्बत ख़ाकरा बर आलमे पाक"

हाँ, तो सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति से संसार की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकृति में तीन गुण हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। शान्ति, सन्तोष, प्रकाश, ज्ञान, आनन्द आदि सत्त्वगुण के कार्य हैं। ऐश्वर्यभोग, तृष्णा, इच्छा, सुख, दुःख आदि रजोगुण के विकार हैं और

मोह, निद्रा, आलस्य, भय आदि तमोगुण के परिणाम हैं। जब तक उक्त तीनों गुणों की सम अवस्था रहती है तब तक प्रलय की अवस्था रहती है। जब इनमें विषमता उत्पन्न होती है तभी सृष्टि का आरम्भ होता है। इन गुणों का पहला परिणाम बुद्धि है। बुद्धि का निर्माण किस प्रकार होता है, यह बात महर्षि चरक के शब्दों में सुनिये—

"त्रिविधं खलु सत्त्वं शुद्धं, राजसं तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्। राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात् तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात्। तेषान्तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। शरीरमपिसत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्। तस्मात्कतिचित्सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः"

अर्थात् प्राणियों का अन्तःकरण तीन प्रकार का होता है शुद्ध (सात्त्विक), राजस और तामस। इनमें शुद्ध सत्त्व निर्दोष माना जाता है, क्योंकि इसमें सत्त्व गुण के कारण धर्म की ही प्रधानता रहती है किन्तु राजस तामस अन्तःकरण सदोष माने जाते हैं। इनमें पहले में रोष (क्रोध) और दूसरे में मोह (अज्ञान) की प्रधानता रहती है। इन तीनों में से प्रत्येक के अनन्त भेद हो सकते हैं, जिनका गिनना गिनाना सम्भव नहीं है। प्रथम तो इन गुणों के तारतम्य से ही अनेक भेद होंगे। कल्पना कीजिये किसी पुरुष के अन्तःकरण में १० भाग सत्त्वगुण, ३ भाग रजोगुण और १ भाग तमोगुण है और दूसरे के १० भाग सत्त्वगुण, ७ भाग रजोगुण और ३ भाग तमोगुण है, एवं तीसरे के १० भाग रजोगुण, ७ भाग सत्त्वगुण और २ भाग तमोगुण

है तो इन तीनों के स्वभावों में, मन की प्रवृत्तियों में, आहारों और विहारों में एवं शरीर की रचनाओं तथा प्रभावों में बराबर भेद रहेगा। इसी प्रकार उक्त तीनों गुणों की मात्राओं की विषमता (न्यूनाधिक्य) के कारण अनन्त भेद हो जायँगे। फिर बाल, युवा, वृद्ध और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर के भेदों के साथ मिलान करने से इनके और भी भेद बढ़ेंगे। क्योंकि शरीर के अनुसार प्राणी का अन्तःकरण होता है और अन्तःकरण के अनुसार उसका शरीर होता है। यद्यपि इस प्रकार भेद असंख्य हैं तथापि विद्यार्थियों के समझाने के लिये महर्षि चरक ने कुछ भेदों का परिगणन कराया है। उनको ठीक ठीक ध्यान में रख लेने से बुद्धिमान् पुरुष समय पड़ने पर सब प्रकार के अन्तःकरणों की विवेचना कर सकता है। महर्षि चरक ने सत्त्वप्रधान अन्तःकरण के सात भेद, रजोगुणप्रधान के ६ भेद और तमोगुणप्रधान के ३ भेद एवं इनके गुणों का दिग्दर्शन किया है। देखिये—

शुद्ध सत्त्व—

(१) "तद्यथा शुचिं सत्याभिसन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमान-मोहेर्ष्याऽमर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात्।"

(चरक, शारीर०, ४ अ०)

अर्थात् पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, संविभागी (जो सम्पत्ति को बाँटकर खाये, किसी का हिस्सा न दबाये) ज्ञान विज्ञान और उत्तर प्रत्युत्तर में निपुण, उत्तम स्मृति-वाला, काम, क्रोध, लोभ, अहङ्कार, अज्ञान, ईर्ष्या, हर्ष और विक्षोभ से रहित समस्त प्राणियों पर दया करनेवाला हो

उस अन्तःकरण को 'ब्राह्म सत्त्व' जानना यह सात्त्विक अन्तःकरणों में भी सबसे श्रेष्ठ है।

२—इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरम् अतिथिव्रतम् उपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिवचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्।

यज्ञ, वेदपाठ, व्रत, हवन, ब्रह्मचर्य में तत्पर, अतिथियों की सेवा में निरत. मद, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, लोभ और क्रोध से रहित, उत्तर-प्रत्युत्तर की शक्ति, विचारशक्ति और धारणाशक्ति से सम्पन्न अन्तःकरण को 'आर्ष सत्त्व' जानना।

३—ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात्।

ऐश्वर्य (धन, जन) से पूर्ण युक्तियुक्त बात कहनेवाले यज्ञों में रुचि रखनेवाले, वीर स्वभाव, तेजस्वी, ओजस्वी, क्षुद्र कार्यों से घृणा करनेवाले, दूरदर्शी, धर्म, धन और कामसुख में निरत पुरुष के अन्तःकरण को ऐन्द्र (इन्द्रसम्बन्धी) सत्त्व जानना।

४—'लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणम् असंप्रहार्यम् उत्थानवन्तं स्मृतिमन्तम् ऐश्वर्यलम्भिनम् व्यपगतरागद्वेषमोहम् याम्यं विद्यात्।'

कर्तव्य और अकर्तव्य का हरदम विचार रखनेवाले, समय पर न चूकनेवाले, अदम्यस्वभाव, सहायसम्पन्न, धारणायुक्त, ऐश्वर्यवान्, राग, द्वेष, मोह से रहित पुरुष को याम्य (यमराजसम्बन्धी) सत्त्व (अन्तःकरण) से युक्त जानना।

५—'शूरं, धीरं, शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात्।'

वीर, धैर्यवान्, पवित्र, अपवित्रता से द्वेष रखनेवाला,

जलविहार का प्रेमी, क्षुद्र कार्यों का विरोधी, उचित क्रोध और प्रसन्नता दिखानेवाला पुरुष, वारुण (वरुण-सम्बन्धी) सत्त्व से युक्त होता है।

६—'स्थानमानोपभोगपरिवारोपसम्पन्नं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं सुखविहारं स्थानकोपप्रसादं कौवेरं विद्यात्।'

स्थान, सम्मान, उपभोग और परिवार से पूर्ण धर्म, अर्थ और काम में तत्पर, पवित्र, सुखी, विहारप्रिय, समुचित क्रोध और प्रसन्नता से युक्त पुरुष कौवेर (कुबेर-सम्बन्धी) सत्त्व से युक्त होता है।

७—'प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापश्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारानित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात्।'

नृत्य, गीत, बाजा, स्तुति, कविता, कथा, इतिहास और पुराणों में कुशल सुगन्धि द्रव्य (इत्र आदि) पुष्पमाला, चन्दन, कपूर, केसर, अगर, सुन्दर वस्त्रों का प्रेमी और स्त्रियों के साथ विहार करने में अनुरक्त एवं असूया (दूसरों के उत्कर्ष की निन्दा) से रहित पुरुष को गान्धर्व (गन्धर्व-सम्बन्धी) सत्त्व से सम्पन्न जानना।

इस प्रकार ये सात भेद शुद्ध (सत्त्वगुणप्रधान) सत्त्व (अन्तःकरण) के बताये हैं। यद्यपि ध्यानपूर्वक देखने से इनमें बहुत भेद प्रतीत होगा एवं रजोगुण की छाया भी इनमें अनेक जगह दीखेगी, परन्तु यह हम पहले ही कह आये हैं कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकती जो केवल एक ही गुण से बनी हो या किसी गुण का अविकृत रूप हो। चाहे कोई गुण क्यों न हो, उसमें कुछ न कुछ दूसरे गुणों का सम्पर्क या विकार का लगाव अवश्य

रहेगा। सत्त्वगुण की प्रधानता होने के कारण ही इन सबको शुद्धसत्त्व कहा है। बहुत से स्त्री, पुरुष ऐसे भी मिलेंगे जिनमें इन उक्त गुणों में किसी के आद्यन्त लक्षण न मिलें बल्कि कई में से कुछ कुछ गुण मिलें। इन सातों में संसार का श्रेयस्कर (कल्याणकारी) अंश विद्यमान है।

राजससत्त्व

१—'शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात्।'

२—'अमर्षणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्ष्युं राक्षसं विद्यात्।'

३—'महाशनं स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात्।'

४—'क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात्।'

५—'आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात्।'

६—'अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षणमसंचयं शाकुनं विद्यात्' इत्येवं राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्यात्—दोषांशत्वात्।

१—अर्थात् शूर, क्रोधी, दूसरों की निन्दा करनेवाला—दूसरे के गुणों में भी दोष दिखानेवाला—धनसम्पन्न, कपटी, दुःखदायी, निर्दय, और आत्मश्लाघा में निरत प्राणी के अन्तःकरण को आसुर (असुरसम्बन्धी) सत्त्व जानना।

२—असहिष्णु, क्रोध का सिलसिला (अनुबन्ध) बनाये रखनेवाला, कमज़ोर पाकर मारनेवाला, क्रूर, भोजन में अत्यन्त रुचि रखनेवाला, मांस का अतिप्रेमी, निद्रालु और

बहुत भ्रमण करनेवाला—ईर्ष्यालु (दूसरों की उन्नति को न सह सकनेवाला) पुरुष राक्षस सत्त्व से युक्त जानना ।

३—बहुत खानेवाला, स्त्रियों में निरत, एकान्त स्त्रीसहवास का उत्सुक, अपवित्रस्वभाव, पवित्रता का द्वेषी, डरपोक, डरानेवाला, विकृत आहार, विहार और शील से संयुक्त सत्त्व पैशाच (पिशाचसम्बन्धी) होता है ।

४—क्रोध आ जाने पर शूर और क्रोध न होने पर भीरु, उग्र स्वभाव, भ्रमणशील, भयानक, आहार विहार में निरत सत्त्व को सार्प (सर्पसम्बन्धी) जानना ।

५—सदा खाने के लिये व्यग्र, दुःखित स्वभाव, निन्दक, पेटू (जो केवल अपना पेट भरे दूसरे को न दे) अकर्मण्य, अतिलोभी, सत्त्व को प्रेत (प्रेतसम्बन्धी) जानना ।

६—सदा कामातुर, निरन्तर खाने और घूमनेवाला, चञ्चल, असहिष्णु, परिग्रहहीन सत्त्व को शाकुन (पक्षि-सम्बन्धी) जानना ।

क्रोध का अंश रजोगुण का रूप है। और क्रोध न्यूनाधिक मात्रा में सबमें रहता है । प्रधानतया राक्षस, पिशाच, सर्प आदि में रहता है । अब जिस पुरुष का स्वभाव जिससे मिलता जुलता हो उसको सादृश्य के कारण उसी कोटि में गिना दिया है । अन्यथा कोई पुरुष चिड़िया या साँप कैसे हो सकता है ? क्रोध, चञ्चलता, कामातुरता आदि रजोगुण के प्रधान लक्षण हैं ।

तामससत्त्व

इसी प्रकार तमोगुण के तीन भेद हैं । पशु, मत्स्य और वनस्पति । इनमें मोह (अज्ञान) की प्रधानता रहती है । भूषणहीन, बुद्धिहीन, निन्दित, आहार विहार करनेवाले,

निद्राशील, डरपोक, पेटू, आलसी आदि पुरुष तमोगुणी होते हैं। इन गुणों के अनुसार लोगों के भोजन की रुचि में भी भेद होता है। जो भोजन सात्त्विक पुरुष की रुचि के अनुकूल होंगे वे तामस पुरुष को कभी पसन्द नहीं आ सकते। गीता में इसका वर्णन इस प्रकार है—

'रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।'
(गीता १७। ८)

रसीले, चिकने, पुष्टिकारक, मधुर आहार (भोजन) सात्त्विक पुरुषों को पसन्द होते हैं।

'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टाः। (गीता १७। ९)

कड़वे (चरपरे), खट्टे, नमकीन, अति गरम, (चाय आदि) तीखे (शराब आदि), रूक्ष (चना प्रभृति) और जलन पैदा करनेवाले भोजन रजोगुणी पुरुष को रुचिकर होते हैं—

'यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्;
उच्छिष्टमपिचाऽमेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।' (गीता १७। १०)

बसा हुआ, नीरस, बुसा हुआ, बासी, जूँठा और अपवित्र भोजन तमोगुणी पुरुषों को पसन्द होता है।

भोजन की भाँति अन्य आहार विहार और आचार विचारों में भी उक्त तीनों गुणों के अनुसार भेद होता है। आप किसी आदमी के कमरे में जाइये। वहाँ के सामान को देखकर आप यह आसानी से समझ सकेंगे कि उसकी प्रकृति कैसी है। उसके स्थान की बनावट, उसके कमरे की सजावट, उसकी तसवीरों का चुनाव, उसके पढ़ने की पुस्तकें, उसके पहनने के कपड़े, उसके शरीर की वेषभूषा यहाँ तक कि उसके चेहरे और खासकर उसकी नज़र को

देखकर आप यह जाँच कर सकेंगे कि वह सत्त्वगुणी है या रजोगुणी अथवा तमोगुणी है। जैसा आदमी का अन्तःकरण होता है, वैसी ही उसकी रुचि होती है और उसी के अनुसार वह अपने लिये चीज़ें चुनता है। इस तरह तीन गुणों के अनुसार तीन प्रकार के अन्तःकरण होते हैं। इन्हीं को सत्त्व और बुद्धि भी कहते हैं।

संसार की समस्त वस्तुएँ इन्हीं तीन गुणों का परिणाम हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इनसे बाहर हो। चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी आदिकों के अन्तःकरण और शरीरों में देखिये, चाहे वृक्ष, लता, गुल्मों में देखिये, चाहे कङ्कड़, पत्थर से लेकर हीरा, मोती, पन्ना, मूँगा में देखिये, इन्हीं तीनों गुणों का चमत्कार सब जगह पाइयेगा। जिस वस्तु की रचना में जिस अनुपात से सत्त्व, रजस् और तमस् का मेल हुआ होगा उसमें उसी हिसाब से प्रत्येक गुण का प्रभाव मौजूद पाइयेगा। गीता में लिखा है—

> 'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
> सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।'

अर्थात् न तो पृथिवी में कोई ऐसी वस्तु है, न स्वर्ग में, न देवताओं में, जो प्रकृति के इन तीन गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से बाहर हो। परमाणु से लेकर सूर्य पर्यन्त समस्त संसार इन्हीं तीन गुणों के अन्तर्गत है।

परन्तु महद् अहङ्कार आदि सूक्ष्म वस्तुओं में प्रकृति के गुणों का—सत्त्व आदि के प्रभावों का—जैसा स्पष्टीकरण होता है वैसा स्थूल पदार्थों में नहीं हो पाता। यह स्वाभाविक भी है। कोई वस्तु जब अनेक परिणामों में परिणत हो जाती है—और खासकर जब किसी दूसरी वस्तु के साथ मिलती

a seer of it and that the one millionth part of a drop possesses unlimited potency. Nor has this (allopathy) got such impossible, imaginary and absurd things as are to be found in Ayurveda. In Ayurveda are sung the song of *Kapha*, *Vāta* and *Pitta* from beginning to end. But can any Vaidya, however eminent he may claim to be, bring them out of the body by any means, operation or otherwise. Can anybody tell definitely what on earth these *Kapha*, *Vāta* and *Pitta* are? Under which of the *Dravya*, *Guna*, etc., do they come? Do they correspond to the definitions of any of these? According to Sānkhya system of Philosophy the main causes of the creation of this world are *Sattva*, *Rajas* and *Tamas* But can any Vaidya include them in any of these *gunas*?

No disease can be produced from the *Sattva guna*; but *Vāta*, *Pitta* and *Kapha*, these three do produce diseases. So these can have no relation with *Sattva guna*. Charaka has described *Vāta*, *Pitta* and *Kapha* as quite different from *Rajas* and *Tamas*. He definitely states that *Rajas* and *Tamas* are the *doshas* of mind while *Vāta*, *Pitta* and *Kapha* are the *doshas* of the body. (*Vide* Charka—Vimana Ch. VI.) Can even now the Vaidya be so bold as to call them as one? Then again, their descriptions also do not tally. The qualities of *Kapha* are described to be slowness, dullness and heaviness; these are clearly the properties of *Tamas*. At the same time those persons who have *Kapha* predominating are said to be

रहती है—तब स्थूल दृष्टि से उसके मूलतत्त्व का पहिचानना दुर्लभ ही नहीं असम्भव हो जाता है। पानी की एक दशा वाष्प (भाप) के रूप में है और दूसरी बरफ़ के रूप में। एक बच्चा इन दोनों को कभी एक नहीं मान सकता, हालाँकि समझदार आदमी के नज़दीक दोनों एक हैं। यही पानी जब पृथ्वी में पड़ गया और वृक्षों की जड़ों ने इसे खींचकर अपने में मिला लिया तो गन्ना, नीबू और नीम के रस के स्वरूप में आ गया। अब इसकी एकता बुद्धिमान् पुरुष की दृष्टि में भी दुर्लक्ष्य हो गई। यहाँ जल का खट्टा, मीठा और कड़वा रस ही नहीं बदला अपितु प्रभाव भी नितान्त भिन्न हो गया। नीम का रस पीने से रूक्षता (वायु) बढ़ती है और नीबू के रस से पित्त बढ़ता है एवं मीठे से कफ बढ़ता है। यही नीबू, गन्ना, आम प्रभृति मनुष्य के शरीर में मिलकर रुधिर आदि के रूप में परिणत हुए। अब गङ्गाजल और मनुष्य के रुधिर का मिलान कीजिये और गङ्गाजल पीनेवाले ऋषि एवं मनुष्य का रुधिर पीनेवाले राक्षस के स्वभाव का मिलान कीजिये। आकाश पाताल का अन्तर है।

सत्त्व, रजस्, तमस् का इतना जटिल मिश्रण स्थूल पदार्थों में हुआ है कि उसका समझना भी दुरूह है। उसके अनुसार व्यवहार चलाने की तो बात ही दूर रही। फिर एक बात और है। विकार और उपद्रव सब रजोगुण और तमोगुण से ही होते हैं, सत्त्वगुण से नहीं। यह ठीक है कि न तो संसार में कोई खाने की वस्तु ऐसी है जो सत्त्वगुण से शून्य हो और न कोई खानेवाला ही ऐसा है जो इससे रहित हो परन्तु सत्त्वगुण के कारण न किसी के मन में विकार उठता है न किसी के शरीर में रोग होता है। इस कारण

जिस जगह बीमारियों और उनकी चिकित्साओं का ही प्राधान्य है उस शास्त्र—आयुर्वेद—में सत्त्वगुण का स्तोत्र-पाठ उतना ज़रूरी भी नहीं है। समाधि लगाकर बैठने की इच्छा रखनेवाले का रणभूमि में क्या काम? इन्हीं कारणों से व्यवहारनिर्वाह और सुगमता की दृष्टि से चिकित्सा-शास्त्र की उपयोगिता के आधार पर स्थूल जगत् को वेद और आयुर्वेद ने फिर तीन विभागों—वात, पित्त, कफ—में विभक्त किया। इसकी चर्चा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल, चौंतीसवें सूक्त की छठी ऋचा में है—

'त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा,
त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्त मद्भ्यः।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे,
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती। ऋग्वेद १।७।३४।६

इसकी व्याख्या में त्रिधातु'-शब्द पर भाष्य करते हुए श्री-सायणाचार्य ने लिखा है। "त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रय-शमनविषयम्" आयुर्वेद में वात, पित्त, कफों के कार्यभेद से इनका नामभेद होता है। इन्हें धातु, दोष और मल कहते हैं। ('धारणाद् धातवः' 'दूषणाद् दोषाः' और 'मलिनीकरणान्मलाः')

रस, रुधिर आदि भी सात धातु हैं, परन्तु 'त्रिधातु'=(तीन धातु) कहने से सिवा वात, पित्त, कफ के और कुछ नहीं लिया जा सकता। सायणाचार्य ने यही बात स्पष्ट शब्दों में कही है। इस ऋचा के देवता अश्विनीकुमार हैं और ऋषि 'आंगिरस' हिरण्यस्तूप। अश्विनीकुमार देवताओं